चिन्तन के आयाम

(द्वितीय भाग)

डॉ. धर्मचन्द जैन



प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
संरक्षक : अ.भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ, जोधपुर

चिन्तन के आयाम

('जिनवाणी' मासिक पत्रिका के सम्पादकीय आलेख)

द्वितीय भाग

डॉ. धर्मचन्द जैन



प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

जयपुर

पुस्तकः
चिन्तन के आयाम (द्वितीय भाग)
('जिनवाणी' मासिक पत्रिका के सम्पादकीय आलेख)
लेखक :
डॉ. धर्मचन्द जैन
प्रकाशकः
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
(संरक्षक- अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ)
दुकान नं. 182-183 के ऊपर, बापू बाजार, जयपुर-302003 (राज.)
दूरभाष- 0141-2575997, फैक्स-0141-4068798
Email : sgpmandal@yahoo.in, **Website :** www.jinwani.in

प्रथम संस्करण 2018
मूल्य-40/- (चालीस रुपये मात्र)
अर्थसौजन्यः
श्रीमती चाँदकवर एवं श्री कनकराज कुम्भट, जोधपुर
लेजर टाइपसेटिंगः
जिनवाणी सम्पादकीय कार्यालय
नेहरू पार्क, जोधपुर-342003 (राज.)
मुद्रकः
इण्डियन मैप सर्विस, जोधपुर (राज.)
अन्य प्राप्ति-स्थल

- **स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ,**
  सामायिक-स्वाध्याय भवन, प्लॉट नं. 2, कुम्हार छात्रावास के सामने,
  नेहरू पार्क, सरदारपुरा, जोधपुर-342003 (राज.)
  फोनः0291-2624891, मो. 94625-43360

- **श्री प्रकाश जी सालेचा**
  16/62, चौपासनी हाउसिंग बोर्ड, जोधपुर-342001 (राज.)
  मो. 94610-26279

- **Shri Navratan Ji Bhansali**
  C/o. Mahesh Electricals, 14/5, B.V.K. Ayangar Road,
  Bangalore-560053 (Karnataka)
  Ph. : 080-22265957, Mob. : 098441-58943

- **श्री मनोज जी संचेती**
  आर.सी.बाफना स्वाध्याय भवन के पीछे, व्यंकटेश मंदिर के पीछे
  गणपति नगर, जलगाँव-425001 (महा.), मो. 94225-91423

- **Shri Padamchand Ji Kothari**
  7 B, "Satva", Opp. Shreyas Coop. Stores, Narayan Nagar Road,
  Shantivan, Paldi, Ahmedabad-380007 (Gujarat), Mob.: 94293-03088

प्रकाशकीय

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल द्वारा 'जिनवाणी' मासिक पत्रिका विगत 75 वर्षों से निरन्तर नियमित रूप से प्रकाशित हो रही है। यह पत्रिका नैतिक, आध्यात्मिक जीवन मूल्यों की संवाहक होने के साथ जैन धर्म-दर्शन को प्रामाणिकता से प्रस्तुत करती है। जनवरी, 1943 से प्रारम्भ हुई इस पत्रिका का जैन पत्र-पत्रिकाओं में विशिष्ट स्थान है। सम्प्रति इसके पन्द्रह हजार से भी अधिक आजीवन सदस्य हैं। अधिकांश पाठक प्रतिमाह इसका बेसब्री से इन्तज़ार करते हैं। यह शोधार्थियों, जिज्ञासुओं एवं हर उम्र के सर्वविध पाठकों के लिए उपयोगी है।

जैन, बौद्ध एवं अन्य भारतीय दर्शनों के ख्याति प्राप्त विद्वान् एवं जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर में संस्कृत विभाग के प्रोफेसर डॉ. धर्मचन्द जी जैन अक्टूबर, 1994 से 'जिनवाणी' का संपादकीय दायित्व बड़ी कुशलता एवं निष्ठापूर्वक निभा रहे हैं। अपने संपादकीय अग्रलेखों में वे प्रतिमास जैन दर्शन एवं समाज से सम्बन्धित विविध विषयों पर अपना गहरा चिन्तन प्रस्तुत करते हैं। पाठक इन आलेखों को बड़ी तन्मयता से पढ़कर लाभान्वित हो रहे हैं। ये सम्पादकीय आलेख प्रायः आध्यात्मिकता से ओतप्रोत होते हैं। उनमें प्रसंगानुसार आध्यात्मिकता के वटवृक्ष को पल्लवित एवं पुष्पित करने के लिये व्यक्ति एवं समाज सुधार की भूमिका के निर्माण की गहरी टीस भी दृष्टिगत होती है। ये लेख न केवल समसामयिक ही होते हैं, अपितु सर्वकालिक महत्त्व के भी होते हैं। इन लेखों में एक उच्चकोटि के साहित्यकार के ज्ञानसागर से उच्छलित उदात्त भाव तरंगें हैं, जिनमें आगमिक प्राणवत्ता एवं तेजस्विता के दर्शन पग-पग पर होते हैं। इनमें डॉक्टर साहब के मौलिक विचार हैं, जिन्हें प्रतिपादित करने में वे बड़ी विनम्रता से अपनी बात बेलाग कहते हैं। सन् 2016 में इस पत्रिका के सम्पादन हेतु डॉ. जैन को 'अहिंसा इण्टरनेशनल विजयकुमार, प्रबोधकुमार, सुबोधकुमार जैन पत्रकारिता पुरस्कार' भी सम्प्राप्त हुआ है।

डॉ. धर्मचन्द जी का अध्ययन विशाल है, चिन्तन गहरा है, दृष्टि उदार है और लेखन शैली प्राञ्जल, सुबोध एवं ओजपूर्ण है। इनके अग्रलेख अन्तर्मानस में एक ऐसी प्रेरणा छोड़ जाते हैं जो पाठक के मन-मस्तिष्क में पढ़ने के बाद भी अनुगुंजित

होती रहती है। हमारी भावना बनी कि 'जिनवाणी' में आये डॉक्टर साहब के प्रेरणात्मक-दिशाबोधक सम्पादकीय आलेख पुस्तकाकार रूप में पाठकों को उपलब्ध कराये जायें, ताकि अतीत की इन मणियों से आज की पीढ़ी भी प्रकाश पाकर लाभान्वित हो सके। इस शृंखला में सम्पादकीय आलेखों की प्रथम पुस्तक 'चिन्तन के आयाम' सन् 2015 में प्रकाशित हो चुकी है, जिसमें सन् 1994 से विविध विषयों पर चयनित 35 आलेख प्रकाशित हुए हैं। इस पुस्तक को जैन-जैनेतर सभी पाठकों ने पसन्द किया है। अतः 'चिन्तन के आयाम' का द्वितीय भाग प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें सन् 2006 तक के आलेख प्रकाशित हैं। यह भी पाठकों को परितोष एवं मार्गदर्शन प्रदान करेगा, ऐसी आशा है।

हमें प्रमोद है कि इस पुस्तक का प्रकाशन डॉ. धर्मचन्दजी, अधिष्ठाता, कला, शिक्षा एवं समाज विज्ञान संकाय, जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय की षष्टिपूर्ति एवं सेवानिवृत्ति के अवसर पर हो रहा है। प्रत्येक आलेख के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को पाठकों की सुविधा के लिए अलग से मंजूषा (बाक्स) में दिया जा रहा है। पुस्तक को इस रूप में लाने में 'जिनवाणी' की सह-सम्पादिका डॉ. श्वेता जी जैन का महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तक के आलेख जीवन में सम्यक् दृष्टिकोण विकसित करने में दिशाबोधक यंत्र का काम करेंगे। पुस्तक प्रस्तुत करने में अपने निष्ठापूर्वक श्रम के लिये सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल डॉ. धर्मचन्द जी जैन एवं डॉ. श्वेता जी जैन का हार्दिक आभार ज्ञापित करता है। श्रावकरत्न श्री कनकराजजी कुम्भट एवं श्राविका श्रीमती चाँदकंवरजी कुम्भट, जोधपुर के भी हम हृदय से आभारी हैं, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में उदारतापूर्वक अर्थ सहयोग किया। तत्परतापूर्वक कम्प्यूटर टङ्कण एवं साज-सज्जा हेतु श्री राजीव जी नेपालिया (माथुर) एवं समय पर प्रकाशन हेतु इण्डियन मेप सर्विस के डॉ. आर.पी.आर्य का भी धन्यवाद ज्ञापित करते हुए हमें प्रमोद है।

पारसचन्द हीरावत	**पदमचन्द कोठारी**	**विनयचन्द डागा**
अध्यक्ष	**प्रमोद मोहनोत**	मंत्री
	कार्याध्यक्ष	

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

लेखकीय

मनुष्य का जीवन उसके विचारों, धारणाओं एवं मान्यताओं से संचालित होता है। उसी के अनुरूप उसके जीवन की दिशा तय होती है तथा दुःख एवं समस्याएँ भी लघु अथवा वृहत् आकार को ग्रहण करती हैं। इसी प्रकार समाधान भी उसके सोच या विचारों की अन्तर्दृष्टि में आलोकित होता है। संक्षेप में कहें तो मानव के सुख-दुःख, समस्याएँ एवं समाधान उसकी अपनी मान्यताओं, धारणाओं, विचारों अथवा सोच पर निर्भर करते हैं।

सत्य को समझने के लिए तटस्थ, निष्पक्ष एवं व्यापक दृष्टिकोण आवश्यक होता है। सत्य को समझकर ही सोच को सही बनाया जा सकता है। सोच को सही बनाकर ही जीवन की गाड़ी को सही पटरी पर लाया जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में जीवन के सत्य को एक जिज्ञासु के रूप में जानने का प्रयत्न किया गया है। इसका विश्लेषण पाठकों के विचारों के साथ संवाद स्थापित करने में यदि उपयोगी बन सका तो मुझे हार्दिक प्रमोद होगा। पाठकों के मतभेद या विचारभेद का भी पूर्णतः स्वागत है। वे अपने सुझावों से भी मुझे अवगत कराकर अनुगृहीत करें।

यह पुस्तक जिनवाणी मासिक पत्रिका में प्रकाशित सन् 1996 से 2006 के मध्य के 33 सम्पादकीय आलेखों का संकलन है। पुस्तक में विषयों की विविधता होने पर भी सभी आलेख जीवन-सूत्र से बन्धे हुए हैं। अतः इन आलेखों को एक साथ 'चिन्तन के आयाम' (द्वितीय भाग) शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित किया जा रहा है।

इस अवसर पर मैं युगमनीषी, अध्यात्मयोगी पूज्य आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा., व्यक्ति एवं समाज के सुधार हेतु सदैव सजग, चारित्रनिष्ठ, आगम-मर्मज्ञ पूज्य आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा., शान्त-दान्त, गम्भीर उपाध्यायप्रवर श्री मानचन्द्र जी म.सा. आदि सन्त-प्रवरों तथा साध्वीप्रमुखा महासती श्री तेजकंवरजी म.सा. आदि साध्वी-मण्डल के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनसे समय-समय पर सत्प्रेरणाएँ प्राप्त होती रही हैं। जिनके चरणों में बैठकर निरन्तर सत्य एवं सद्बोध की शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है, उन दिवंगत पूज्य गुरुजी श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा के प्रति कृतज्ञतापूर्वक नमन करता हूँ। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर के मंत्री श्री विनयचन्दजी डागा का अनुगृहीत हूँ कि उन्होंने विश्वविद्यालयीय सेवा से निवृत्ति के

अवसर पर चिन्तन के आयाम के द्वितीय भाग के प्रकाशन की स्वीकृति प्रदान की। जिनवाणी की सह-सम्पादक डॉ. श्वेताजी जैन ने पुस्तक का स्वरूप प्रदान करने में अपना विशेष सहयोग प्रदान किया है। मैं उनके उज्ज्वल भविष्य की शुभकामना करता हूँ।

-धर्मचन्द जैन

मोबाइल : 094132-53084

E-mail- dcjain.jnvu@gmail.com

चिन्तन के आयाम (प्रथम भाग) : एक दृष्टि

चिन्तन के आयाम में उन पैंतीस आलेखों को समाविष्ट किया गया है, जो जिनवाणी में सम्पादकीय के रूप में प्रकाशित हुए थे। पुस्तक के कई आलेखों में, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में आपकी क्रान्तधर्मिता और प्रयोगधर्मिता उजागर हुई है। प्रयोगधर्मिता आलेख (पृष्ठ 9) में आपकी इन विशेषताओं को महसूस किया जा सकता है। अन्य आलेखों में भी आपकी यह अनेकान्त दृष्टि दृष्टिगोचर होती है। जिसकी वजह से पाठक ज्ञान और विचार के अनेक आयामों का स्पर्श कर सकता है।

चिन्तन के आयाम में प्रकाशित आलेख शोध सन्दर्भ के लिए बहुत उपयोगी हैं। उसमें उचित स्थान पर आगम और आगमेतर साहित्य की सूक्तियों, कवियों की कविताओं तथा अन्य आवश्यक कथनों का सन्दर्भ सहित उल्लेख है। पुस्तक की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें प्रकाशित हर आलेख के साथ एक या एक से अधिक मंजूषा (बॉक्स) बनाकर उनमें सूक्तिरूप में आलेख-सार दे दिया गया है। इस तरह की प्रस्तुति पाठकों का ध्यान आकर्षित करती एवं लेख को सुबोध बनाती है।

इन आलेखों में अनेक अस्पर्शित विषय हैं। कुछ विषय स्पर्शित या परिचित हैं तो उनकी विषयवस्तु या व्याख्या नई नवेली है। सिर्फ एक शब्द के शीर्षक या छोटे-छोटे शीर्षक वाले आलेखों में बड़ी-बड़ी बातें बताई गई हैं। जैसे- लोकैषणा, प्रशंसा, प्रशम सुख, समय, परिवर्तन, विवेक, व्यक्तित्व, नियतिवाद, आत्म-स्वातन्त्र्य, मौन, चातुर्मास इत्यादि। इस प्रकार यह पुस्तक स्वाध्यायियों, वक्ताओं और विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी है।

पुस्तक में आपके सुदीर्घ व गहन अध्ययन का सार अलग-अलग विषयों में अभिव्यक्त हुआ है। इस अभिव्यक्ति में आपके चिन्तन-मनन के कुछ आयाम चिन्तन के आयाम बन गये। यह पुस्तक व्यावहारिक और पारमार्थिक, दोनों ही प्रकार के जीवन को बेहतर बनाने का मार्गदर्शन करती है।

-डॉ. दिलीप धींग, निदेशक, अंतरराष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन व शोध केन्द्र, सुगन हाउस, 18, रामानुजा अय्यर स्ट्रीट, साहुकारपेट, चेन्नई-600001

विषयानुक्रम

जैन परम्परा में 'ॐ' का प्रयोग

भारतीय परम्परा में 'ॐ' अथवा 'प्रणव' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेद, पुराण एवं उपनिषद् साहित्य में प्रयुक्त 'ॐ' ने सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन परम्परा को प्रभावित किया है। साधना-पद्धति एवं मन्त्र-तन्त्र में भी 'ॐ' का प्रयोग हुआ है। मूलतः वैदिक 'ॐ' शब्द ने बौद्ध और जैन धर्मों में भी स्थान बनाया। आचार्यो ने अपने धर्म-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में 'ॐ' को तदनुरूप अर्थ देकर अपनाया।

'ॐ' के पर्यायवाची अनेक शब्द हैं, यथा- प्रणव, उद्गीथ आदि। वेद में प्रयुक्त 'ॐ' के अर्थ का भी समय-समय पर विकास होता रहा। गोपथ ब्राह्मण में 'ओम्' को ऋक्, यजुष्, साम, सूत्र, ब्राह्मण, श्लोक आदि कहा गया है। (गोपथ ब्राह्मण 1.1.23) इसका प्रयोग यज्ञ में विभिन्न कामनाओं की प्राप्ति के लिए भी किया जाता था। 'अ उ म्' से बने 'ओम्' को सबका सारतत्त्व स्वीकार किया गया है। यजुर्वेद से लेकर वेदांग पर्यन्त समस्त वैदिक साहित्य में प्रणव एवं ओम् को एक ही माना गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में उसे उद्गीथ भी कहा गया है। यज्ञ सम्पादन में ओम् का प्रयोग होने के साथ उसे धीरे-धीरे ब्रह्म की उपासना एवं मंत्रों के जप में भी स्थान मिलने लगा। 'ओम्' को ब्रह्म भी कहा गया- **'ओमिति ब्रह्म ओमितीदं सर्वम्'** (तैत्तिरीयोपनिषद्, 1.8) आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ओम् को स्वर्ग का द्वार कहा गया-

- **वेद, पुराण एवं उपनिषद् साहित्य में प्रयुक्त 'ॐ' ने सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन परम्परा को प्रभावित किया है।**
- **वेद में प्रयुक्त 'ॐ' के अर्थ का भी समय-समय पर विकास होता रहा।**
- **एक मान्यता के अनुसार 'ओंकार' और 'अथ' शब्द ब्रह्मा के कण्ठ से निसृत हुए, इसलिए इन्हें मांगलिक भी माना गया है।**
- **ओंकार को मांगलिक मानने के कारण बीजमन्त्रों में इसका प्रयोग अन्य अक्षरों से पहले हुआ।**

'ओंकारः स्वर्गद्वारं तस्माद् ब्रह्माध्येष्यमाणम्।' योगसूत्र (1.27-28) में प्रणव को ईश्वर का वाचक प्रतिपादित करते हुए उसके जप को उसकी प्राप्ति का साधन बताया गया- **'तस्य वाचकः प्रणव। तज्जपस्तदर्थभावनम्।'**

एक मान्यता के अनुसार 'ओंकार' और 'अथ' शब्द ब्रह्मा के कण्ठ से निसृत हुए, इसलिए इन्हें मांगलिक भी माना गया है-

ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्माद् मांगलिकावुभौ ।।

- **बौद्धदर्शन में तान्त्रिक साधना के अन्तर्गत ओम् का प्रयोग अनेक बार दिखाई देता है।**
- **जैन धर्म में इसे परमेष्ठी का वाचक माना गया है। अरिहन्त का अ, अशरीर का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ और मुनि का म् (अ+अ+आ+उ+म्) मिलकर 'ओम्' शब्द बनता है।**
- **जैन परम्परा में 'ॐ' शब्द का महत्त्व बाद में स्थापित हुआ है।**
- **जैन धर्म में नाम का नहीं गुणों एवं भावों का महत्त्व है।**
- **'भगवान' शब्द जिस प्रकार सभी परम्पराओं में मान्य है उसी प्रकार 'ॐ' शब्द ने भी सभी परम्पराओं में अपना स्थान बनाया है।**

ओंकार को मांगलिक मानने के कारण बीजमन्त्रों में इसका प्रयोग अन्य अक्षरों से पहले हुआ। अन्य बीजाक्षर बाद में प्रयुक्त हुए।

पुराणों में भी 'ओम्' का भूरिशः प्रयोग हुआ है। वायुपुराण के दो अध्यायों(अध्याय 20 तथा 32) में प्रणव तत्त्व का विशद विवेचन हुआ है। बीसवें अध्याय में ओंकार को ब्रह्मरूप में प्रतिपादित करते हुए उसका तीनों वेदों (ऋक्, यजुः, साम), तीनों लोकों (भू, भुवः,स्वः), तीनों अग्नियों (गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि), विष्णु के तीनो पदों (भूर्लोक, भुवर्लोक तथा नाकपृष्ठ) तथा तीनो स्वरों (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित) से तादात्म्य बताया गया है। ओंकार के जप से नानाविध पापों से मुक्ति तथा अनेकविध सत्कार्यों से होने वाले फल से अधिक फल निर्दिष्ट किया गया है। वायुपुराण (26.15) में ओंकार से वेद का प्रादुर्भाव कहा गया है तथा ओंकार को महेश्वर भी कहा गया है- **'स ओंकारो भवेद् वेदः अक्षरो वै महेश्वरः।'** विष्णुपुराण, मार्कण्डेय पुराण, श्रीमद्भागवत, महापुराण आदि में भी प्रणव या ओंकार का विवेचन मिलता है। वाशिष्ठ लिंग उपपुराण में कहा गया है कि प्रणव में संलग्न व्यक्ति को किसी प्रकार का भय नहीं रहता-

प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्।।17.67।।

माण्डूक्योपनिषद् में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के साथ भी ओंकार के घटक अ,उ और म् के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए चतुर्थ अवस्था को ब्रह्म कहा गया है।

'ॐ' को ध्यान के लिए आदर्श आलम्बन माना गया है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझे स्मरण करता हुआ जो 'ओम्' अक्षर रूप ब्रह्म का जप या ध्यान करता है वह देह का त्याग कर परम गति को प्राप्त करता है-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।।

-भगवद्गीता, 8.13

ओम् में अ को विष्णु का, उ को ब्रह्मा का तथा म् को महेश्वर का भी वाचक माना गया है-

ब्रह्मोकारोऽत्र विज्ञेयः, अकारो विष्णुरुच्यते।
महेश्वरो मकारस्तु, त्रयमेकत्र तत्त्वतः।।

बौद्धदर्शन में तान्त्रिक साधना के अन्तर्गत ओम् का प्रयोग अनेक बार दिखाई देता है।

जैन परम्परा में भी ओम् का प्रयोग दिखाई देता है। जैन धर्म में इसे परमेष्ठी का वाचक माना गया है। बृहद् द्रव्य संग्रह की टीका में इसका प्राचीन उल्लेख है-

अरिहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झायमुणिणो।
पढमक्खरनिप्फणो ओंकारो पंच परमेट्ठी।।

अर्थात् अरिहन्त का अ, अशरीर का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ और मुनि का म् (अ+अ+आ+उ+म्) मिलकर 'ओम्' शब्द बनता है। इस प्रकार ओम् का जप करने से पंच परमेष्ठी का जप होता है। यहाँ स्पष्ट है कि जैन परम्परा में 'ओम्' शब्द का औचित्य उसकी अपनी मान्यता के अनुरूप सिद्ध किया गया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'महादेव स्तोत्र' में वीतराग प्रभु को महादेव शब्द से वर्णित किया है, यथा-

महाक्रोधो महामानो, महामाया महामदः।
महालोभो हतो येन, महादेवः स उच्यते।।

अर्थात् क्रोध, मान, माया, मद और लोभ का जिसने हनन किया है वह

महादेव है। इस अर्थ में वीतराग प्रभु ही महादेव सिद्ध होते हैं। भक्तामर स्तोत्र में भी आदिनाथ को विधाता, बुद्ध, शिव आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है।

जैन धर्म में नाम का नहीं गुणों एवं भावों का महत्त्व है। भव बीज रूप रागादि का नाश करने वाले जो कोई भी हो, ब्रह्मा, विष्णु, महेश या जिन उन सबको नमस्कार है–

भवबीजांकुरजनना, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

-महादेव स्तोत्र, 44

जैनों ने ओम् शब्द को त्रिलोक का वाची भी माना है। इसके लिए अधोलोक का 'अ', ऊर्ध्वलोक का 'ऊ' एवं मध्यलोक का 'म्' लेकर 'ओम्' की निष्पति की जाती है। जैन परम्परा में मूलतः 'अर्हन्' (अरहंत/अरिहंत) शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है। जैनों में जप और ध्यान साधना में 'ओम्' और 'अर्हम्' का सम्मिलित रूप 'ओम् अर्हम्' भी प्रयुक्त हुआ है। कुछ उदाहरण– ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसाय नमः, ॐ ह्रीं अर्हं पार्श्वनाथाय नमः।'

ओम् के प्रयोग को लौकिक कामनाओं की पूर्ति के साथ जोड़ना निश्चित हेय है। इस प्रकार के प्रयोग के उदाहरण भी जैन परम्परा में आ गये हैं, यथा–

ऊँकारबिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः॥

यहाँ 'कामद' शब्द का प्रयोग कामपूर्ति या संसार से जोड़ने वाला है। अन्यत्र भी जहाँ ओम् को सांसारिक कामनाओं की पूर्ति से जोड़ा गया है वह आध्यात्मिक दृष्टि से त्याज्य है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि ओम् शब्द का प्रयोग मिथ्यात्व का सूचक है।

जैन परम्परा में ॐ के साधनागत प्रयोग भी देखने में आते हैं। आचार्य शुभचन्द्र ने ध्यान–साधना में प्रणव या ॐ को साधन स्वीकार किया है, यथा–

स्मर दुःखानलज्वालाप्रशान्तेर्नवनीरदम्।
प्रणवं वाङ्मयज्ञानप्रदीपं पुण्यशासनम्॥

-ज्ञानार्णव, 38.31

आचार्य हेमचन्द्र ने भी योगशास्त्र में प्रणव का उल्लेख किया है–

कुम्भकेन महामन्त्रं प्रणवं परिचिन्तयेत्।

यह निश्चित है कि जैन परम्परा में 'ॐ' शब्द का महत्त्व बाद में स्थापित

हुआ है। उत्तराध्ययन सूत्र (25.31) में 'ॐ' का द्रव्य रूप से विशेष महत्त्व दिखाई नहीं पड़ता, यथा–'**न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।**'

'ओम्' का प्रयोग जब जैन परम्परा में किया जाए तब उसका भाव वैसा ही ग्रहण किया जाना चाहिए, जैसा जैन परम्परा के अनुकूल हो। 'ॐ' के प्रयोग मात्र को मिथ्यात्व का करार देना भी उचित नहीं लगता। हाँ, आगम के पाठ या नमस्कार मन्त्र में ऊँ जोड़ना तो उचित नहीं। वह पाठ का आधिक्य ही होगा। किन्तु उसके प्रयोगमात्र को मिथ्यात्व समझ लेना उचित नहीं। क्योंकि शब्द प्रयोग मात्र से मिथ्यात्व नहीं हुआ करता। मिथ्यात्व शब्दों में नहीं दृष्टि में होता है। सम्यग्दृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत बन जाता है तथा मिथ्यात्वी के लिए सम्यक् श्रुत भी मिथ्याश्रुत का ही कार्य करता है। 'भगवान' शब्द जिस प्रकार सभी परम्पराओं में मान्य है उसी प्रकार 'ॐ' शब्द ने भी सभी परम्पराओं में अपना स्थान बनाया है। **(नवम्बर, 2001)**

धर्म के दो रूप

प्रायः ऐसा क्यों होता है कि धार्मिक क्रियाओं को करते हुए भी मनुष्य के जीवन में अपेक्षित परिवर्तन दिखाई नहीं देता। वह प्रतिदिन धर्म-स्थल में जाकर प्रभु-भक्ति करता है, सन्तों की सेवा में जाता है, सामायिक-प्रतिक्रमण, व्रत-उपवास आदि धार्मिक क्रियाएँ करता है, तब भी उसका जीवन भीतर से कलुषित एवं राग-द्वेष से सना हुआ रहता है। काम-क्रोध, मान-माया, लोभ-मोह आदि पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं होता। इसके अनेक कारण हो सकते हैं- प्राचीन चिकने कर्म, काललब्धि का न होना, अभव्यत्व आदि। किन्तु एक सबसे प्रमुख कारण है मनुष्य में धर्म का सम्यक् स्वरूप घटित न होना। वह धर्म के बाह्य रूप को पकड़ता है, उसके वास्तविक स्वरूप की ओर अग्रसर नहीं होता। वह धार्मिक क्रियाएँ भी किसी बाह्य भौतिक प्रलोभन के वशीभूत होकर करता है, भीतर से अपने को निर्मल बनाने का लक्ष्य निश्चित नहीं करता। जिन व्यक्तियों का धर्म-क्रिया करते हुए भी धर्मक्रिया में उपयोग नहीं रहता, उन्हें धर्म का वास्तविक लाभ कभी नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में कबीरदासजी का कथन सत्य प्रतीत होता है-

- **धर्म के दो रूप हैं- एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। बाह्य रूप के अन्तर्गत धर्म के विविध अनुष्ठानों का समावेश होता है। धर्म के आभ्यन्तर रूप में चेतना का परिष्कार होता है।**
- **धर्म के आभ्यन्तर रूप को भाव-क्रिया एवं उसके बाह्य रूप को द्रव्य-क्रिया कहा जा सकता है।**
- **जब धर्म का बाह्य रूप हावी हो जाता है, उसका आभ्यन्तर रूप छूट जाता है तो वे धर्म क्रियाएँ आडम्बर का रूप ले लेती हैं।**
- **जो द्रव्यक्रिया व्यक्ति को भाव-क्रिया की ओर नहीं ले जाती, वह महत्त्वहीन ही रहती है।**
- **प्रायः धार्मिक क्रियाओं को करते हुए भी मनुष्य के जीवन में अपेक्षित परिवर्तन दिखाई नहीं देता।**

माला फेरत जुग गया, गया न मनका फेर।
कर का मनका डारि दे, मन का मनका फेर।।

भगवान् की माला फेरते हुए युग बीत जाता है, किन्तु मन में बंधी हुई गाँठे टूट नहीं पाती हैं। ऐसे लोगों को कबीरदासजी का परामर्श है कि हाथ में फिराये हुए माला के मणि को तू भले ही छोड़ दे, किन्तु अपने मन को बदल। कबीरदासजी का यहाँ पर मन की दशा/चिन्तन को बदलने पर बल है। भगवान् महावीर भी उसका निग्रह करने पर बल देते हैं। धर्म-शिक्षा से इस दुष्ट मन का निग्रह किया जाता है। केशी स्वामी के द्वारा पृच्छा किए जाने पर गौतम स्वामी ने यही उत्तर दिया है-

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो, परिधावइ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्म-सिक्खाइ कंथगं।।

उत्तराध्ययनसूत्र. 23.58

"मन भयंकर साहसी है, यह दुष्ट अश्व की भांति दौड़ता है, मैं उसे धर्मशिक्षा से निगृहीत करता हूँ।" धर्म-शिक्षा का प्रयोजन ही मन को वश में करके आत्मा को निर्मल बनाना है।

धर्म के दो रूप हैं- एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। बाह्य रूप के अन्तर्गत धर्म के विविध अनुष्ठानों का समावेश होता है। धर्म के आभ्यन्तर रूप में चेतना का परिष्कार होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से धर्म का लक्ष्य व्यक्ति का आन्तरिक सकारात्मक परिवर्तन है, किन्तु व्यावहारिक जीवन में होता यह है कि व्यक्ति बाह्य रूप से तो धार्मिक क्रियाएँ करता रहता है, किन्तु उसके भीतर में निर्मलता की ओर ले जाने वाला कोई परिवर्तन घटित नहीं होता। इसका एक मनावैज्ञानिक कारण यह भी है कि मनुष्य वास्तविकता से अधिक प्रदर्शन में विश्वास रखता है। वह अपनी बाह्य धार्मिक क्रियाओं से सन्त-सतियों, श्रावक-श्राविकाओं को प्रभावित करने में अटक जाता है या भौतिक कामनाओं में उलझ जाता है। यदि वह

- **इसका सबसे प्रमुख कारण है मनुष्य में धर्म का सम्यक् स्वरूप घटित न होना। वह धर्म के बाह्य रूप को पकड़ता है, उसके वास्तविक स्वरूप की ओर अग्रसर नहीं होता।**
- **धर्म का फल है-कषायों में कमी।**
- **भगवान् की माला फेरते हुए युग बीत जाता है, किन्तु मन में बंधी हुई गाँठे टूट नहीं पाती हैं।**
- **धर्म से सरलता, समता, निरहं-कारता, क्षमा, सत्य, अनासक्ति आदि गुणों की अभिव्यक्ति होती है।**

इसके साथ में समता, शान्ति, निर्मलता, सद्भाव आदि का अनुभव करता है तो उसकी धार्मिक क्रिया प्रदर्शन नहीं कहलाती, अपितु वह आत्म–निर्मलता एवं चित्त–निर्मलता का साधन बन जाती है।

धर्म के आभ्यन्तर रूप को भाव–क्रिया एवं उसके बाह्य रूप को द्रव्य–क्रिया कहा जा सकता है। द्रव्य–क्रिया, भाव–क्रिया में सहायक बन सकती है। यही द्रव्य–क्रिया का महत्त्व है। भाव–क्रिया होने पर द्रव्य–क्रिया स्वतः सम्यक् रूप में सम्पादित होती है। वर्तमान में द्रव्य–क्रिया उभर कर आ रही है और भाव–क्रिया पीछे छूट गई है।

कई लोग जो भाव–क्रिया की दलाली करते हैं, वे द्रव्य–क्रिया को महत्वहीन समझकर उसे नहीं अपनाते। किन्तु वे ऐसा करके भाव–क्रिया की प्राप्ति का मार्ग ही अवरुद्ध कर देते हैं। बाह्य धार्मिक क्रियाएँ आभ्यन्तर धर्म–प्राप्ति में सहायक होती हैं, किन्तु उनमें सजगता अभीष्ट होती है।

- **धर्म के बाह्य रूप की ओर गति तो देखादेखी से हो जाती है, किन्तु आभ्यन्तर रूप की प्राप्ति मनुष्य के स्वयं के विवेकयुक्त पुरुषार्थ पर निर्भर है।**
- **दीर्घकालीन तप हो या अल्प–काल का तप, उसका महत्त्व संवर और निर्जरा से है। तप करते समय काषायिक भावों का भी त्याग आवश्यक है। यदि तप अहंकार का पोषण करता है, प्रदर्शन एवं आडम्बर से जुड़ा हुआ है, तो उसे तप का शुद्ध रूप नहीं माना जा सकता।**

जब धर्म का बाह्य रूप हावी हो जाता है, उसका आभ्यन्तर रूप छूट जाता है तो वे धर्म क्रियाएँ आडम्बर का रूप ले लेती हैं। आजकल बहुत से धार्मिक अनुष्ठान इसी श्रेणी में आते हैं। जो द्रव्यक्रिया व्यक्ति को भावक्रिया की ओर नहीं ले जाती, वह महत्त्वहीन ही रहती है।

धर्म के बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप के आधार पर चार स्थितियाँ बन सकती हैं–

	धर्म की अवस्थाएँ	**जीवन–व्यवहार में प्रभाव**
1.	बाह्य रूप है, आभ्यन्तर रूप नहीं।	नहीं वत्
2.	आभ्यन्तर रूप है, बाह्य रूप नहीं।	देखा जाता है
3.	दोनों हैं	प्रभाव पूरा रहता है।
4.	दोनों नहीं हैं	प्रभाव नहीं होता

धर्म का फल है–कषायों में कमी। सरलता, समता, निरहंकारता, क्षमा,

सत्य, अनासक्ति आदि गुणों की अभिव्यक्ति धर्म से ही होती है। धर्म का बाह्य रूप हो एवं आभ्यन्तर रूप न हो तो जीवन में समरसता, शान्ति एवं आनन्द का संचार नहीं हो सकता। जीवन में धर्माचरण के वास्तविक लाभ की प्राप्ति आभ्यन्तर रूप के बिना नहीं होती। जिसके जीवन में धर्म का आन्तरिक रूप विद्यमान है उसका जीवन-व्यवहार स्वतः सुन्दर होता है। वह धार्मिक क्रियाओं को प्रदर्शन एवं आडम्बर का निमित्त न मानकर जीवन के सम्यक् निर्माण हेतु उन्हें आवश्यक समझता है। कभी ऐसा भी होता है कि धर्म का बाह्य रूप अपनाते-अपनाते आभ्यन्तर रूप तक पहुँचा जा सकता है। वे लोग तो सदा अधन्य हैं, अकृत पुण्य हैं जिन्होंने धर्म के न बाह्य रूप का आलम्बन लिया है और न ही आन्तरिक रूप का रसास्वादन किया है।

आत्म-निर्मलता की साधना ही धर्म है। यह निर्मलता तभी प्राप्त हो सकती है जब धर्माचरण को अपना कर्त्तव्य समझा जाए। यह आचरण आध्यात्मिक स्तर पर संवर और निर्जरा के रूप में घटित होता है। जिन भावों और क्रियाओं से नए कर्मों के बन्धन पर रोक लगे एवं पुराने कर्म शीघ्रता से नष्ट हों, ऐसा आचरण ही धर्म की श्रेणी में आता है।

दीर्घकालीन तप हो या अल्पकाल का तप, उसका महत्त्व संवर और निर्जरा से है। तप करते समय काषायिक भावों का भी त्याग आवश्यक है। यदि तप अहंकार का पोषण करता है, प्रदर्शन एवं आडम्बर से जुड़ा हुआ है, तो उसे तप का शुद्ध रूप नहीं माना जा सकता। आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा. ने कहा है- ''तप के साथ संयम भी जरूरी है। हमारे यहाँ तपस्या की महिमा संयम के साथ है। आस्रव-त्याग के साथ जो तप की आराधना होगी वह दोगुनी ताकत वाली होगी। बिना आस्रव-त्याग के जो तपस्या होगी, उसकी आधी ताकत कम हो जायेगी। हमारा कर्त्तव्य है कि हम तप की ताकत को बढ़ावा दें, तप की ताकत को चौगुना करें, किन्तु उसे कमजोर न करें। महावीर का जो मुक्ति-मार्ग है, वह तप-त्याग प्रधान है।'' **(गजेन्द्र व्याख्यान माला - भाग 7, पृष्ठ 43-45)**

सामायिक हो या स्वाध्याय, पौषध व्रत हो या उपवास, छोटा नियम हो या बड़ा, अणुव्रत हो या महाव्रत- सबका महत्त्व उनका भावतः उपयोगपूर्वक पालन करने से ही होता है। द्रव्य से अनेक मनुष्यों की क्रिया समान होने पर भी भाव से उनमें भेद रहने के कारण फल-प्राप्ति समान नहीं होती। धर्म-साधना हो या कर्म-बंध का कार्य- सबमें भावों की प्रधानता है। अशुभ भाव जहाँ कर्मबन्ध के कारण हैं, वहाँ शुभ-भाव संवर एवं निर्जरा की साधना में सहायक बनते हैं।

यदि कोई द्रव्य सामायिक करता है, भाव सामायिक नहीं करता– अर्थात् सामायिक की वेशभूषा धारण करके 48 मिनट तक बैठा रहता है, किन्तु समता के रस का आस्वादन नहीं करता है तो उसे सामायिक का अभीष्ट फल प्राप्त नहीं होता। यदि कोई द्रव्य सामायिक भी मन, वचन एवं काया के 32 दोषों को टालकर करता है तो स्वतः उसकी भाव सामायिक हो जाती है एवं वह जीवन में धर्म के आभ्यन्तर रूप की ओर कदम बढ़ा देता है।

धर्म के बाह्य रूप की ओर गति तो देखादेखी से हो जाती है, किन्तु आभ्यन्तर रूप की प्राप्ति मनुष्य के स्वयं के विवेकयुक्त पुरुषार्थ पर निर्भर है। मन, वचन एवं काया का पूर्ण उपयोग जब धर्माराधन में या भगवद् भक्ति में लगेगा तो धर्म के आभ्यन्तर स्वरूप की प्राप्ति असंदिग्ध है। **(अप्रेल, 2000)**

जैन धर्म और विश्वकल्याण

जैन धर्म के संबंध में यह कहा जाता है कि यह आत्मकल्याण का प्रतिपादक धर्म है। दूसरी बात इसके विषय में यह कही जाती है कि यह निवृत्तिमूलक धर्म है, इसमें प्रवृत्ति को महत्त्व नहीं है। इन दोनों तथ्यों पर जैन धर्मावलम्बियों ने इतना बल दिया कि यह धर्म एक संकुचित दायरे में सिमट कर रह गया। विश्वस्तर पर मानव जाति एवं प्राणिजगत् के कल्याण में इस धर्म का जो योगदान संभव था, वह उजागर नहीं हो सका। इसके पीछे एक कारण यह मान्यता भी रही कि दूसरों को सुधारने के पहले अपने आपको सुधार लो, आत्म-कल्याण ही सच्चा कल्याण है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि जैन धर्म के आगमों में आत्म-कल्याण के सूत्र यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। अपने आपको निर्मल बनाने की प्रेरणा पदे-पदे मिलती है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि आत्म-जेता ही परम विजेता है। सहस्रों सहस्र युद्धों में विजय प्राप्त करने वाले की अपेक्षा अपने को जीत लेने वाला श्रेष्ठ है। सारी साधना अपने राग-द्वेष एवं क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त करने पर केन्द्रित है। सामायिक, प्रतिक्रमण, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र- सबसे आत्मकल्याण या

- **तीर्थंकर महावीर विश्वकल्याण की भावना से ओतप्रोत थे। उनके द्वारा निरूपित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह व्रत न केवल आत्म-कल्याण में सहायक हैं, अपितु इनसे विश्व-कल्याण भी संभावित है।**
- **आज विश्वस्तर पर प्रचारित करने की आवश्यकता है कि अहिंसा से जहाँ मैत्री, प्रेम एवं निर्भयता का वातावरण बनता है, वहाँ हिंसा से भय, शत्रुता, आतंक एवं प्रलय को निमन्त्रण मिलता है।**
- **अनर्थदण्ड से भी बचने का यदि मानव संकल्प ग्रहण कर ले तो विश्व की अनेक समस्याएँ टाली जा सकती है।**
- **हिंसा का तात्पर्य मात्र दूसरे प्राणियों का वध करना नहीं है, अपितु उन्हें परिताप देना, अशान्त बनाना, गुलाम बनाना, शोषण करना आदि भी हिंसा है।**

मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। किन्तु भगवान महावीर एवं तीर्थंकरों की वाणी में प्राणिमात्र के कल्याण की भावना भी सर्वत्र झलकती है। प्राणिमात्र के प्रति कल्याण की भावना के कारण ही नमोत्थुणं में तीर्थंकर के लिए लोकनाथ(लोगनाहाणं), लोकहितकर्त्ता (लोगहियाणं), लोकप्रदीप (लोगपईवाणं), लोकप्रद्योतक (लोगपज्जोयगराणं), अभयदाता (अभयदयाणं), ज्ञानचक्षुदाता (चक्खुदयाणं), मार्गदर्शक(मग्गदयाणं), शरणदाता (सरण-दयाणं), बोधिदाता (बोहिदयाणं) आदि विशेषण दिए गए हैं। इन विशेषणों से उनकी विश्वकल्याणकारिता सिद्ध होती है।

- **विश्व में आवश्यक सुविधाएँ हों, किन्तु उन पर अधिकार जताने, उन्हें अपने अधीन रखने की प्रवृत्ति पर यदि अंकुश लग जाए तो यह विश्व विकास एवं कल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।**
- **अहिंसा भयभीतों को अभय एवं शरण प्रदान करती है, इसलिए यह भगवती है।**
- **सत्य जहाँ स्वयं को प्रामाणिक एवं विश्वसनीय बनाता है वहाँ सत्यवादी जगत् का भी हित ही करता है।**
- **अचौर्यव्रत का पालन करने पर बल दिया जाए एवं उसे विश्व-कल्याण के पथ के रूप में प्रस्तुत किया जाए तो संसार से भ्रष्टाचार का निवारण किया जा सकता है।**
- **व्यक्ति यदि अपनी इच्छाओं पर संयम करना प्रारम्भ कर दे तो संसार की बहुत सी समस्याएँ स्वतः समाप्त हो सकती है।**

तीर्थंकर महावीर विश्वकल्याण की भावना से ओतप्रोत थे। उनके द्वारा निरूपित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह व्रत न केवल आत्म-कल्याण में सहायक हैं, अपितु इनसे विश्वकल्याण भी संभावित है। आवश्यक है इन व्रतों के व्यापक महत्त्व को समझने एवं प्रतिपादित करने की।

उदाहरण के लिए अहिंसा को ही लें। भगवान महावीर ने हिंसा को अहित एवं अबोधि का कारण बताया और उसे कर्म-बन्धन का कारण बताया तो दूसरी ओर सभी प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य भाव (आयतुले पयासु) उत्पन्न कर उनके प्रति संवेदनशीलता विकसित करने एवं उनके जीवन का महत्त्व समझने की भी प्रेरणा की है। आचारांग सूत्र में कहा है- **'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवधा पियजीविणो, सव्वेसिं जीवितं पियं।'** इस एक वाक्य में प्राणिमात्र की प्रकृति का बोध होता है कि सभी जीवों को

आयु प्रिय है, सबको सुख अनुकूल एवं दुःख प्रतिकूल लगता है, सभी जीवों को वध अप्रिय एवं जीवन प्रिय है। जीवों की इस प्रकृति के बोध से मनुष्य की संवेदनशीलता गहरी हो सकती है, सभी जीव मानव के सदृश जीने की अभिलाषा वाले हैं, अतः उनको भी हमारी भांति जीने का अधिकार है और सुखपूर्वक जीने का अधिकार है। विश्वस्तर पर इस तथ्य को प्रचारित किया जाए तो अज्ञानवश जो बृहत्स्तर पर हिंसा की जा रही है, उसे रोका जा सकता है तथा न केवल मानवजाति की रक्षा, अपितु समस्त प्राणियों की रक्षा के भाव को लोगों के दिलों में संस्थापित किया जा सकता है।

जैन धर्मावलम्बियों ने हिंसा को कर्म-बन्धन का कारण बताने पर जितना बल दिया है, उसका सहस्रांश भी बल अहिंसा को प्राणिमात्र के कल्याण का मन्त्र बताने पर नहीं दिया। इस मन्त्र को आज विश्वस्तर पर प्रचारित करने की आवश्यकता है कि अहिंसा से जहाँ मैत्री, प्रेम एवं निर्भयता का वातावरण बनता है, वहाँ हिंसा से भय, शत्रुता, आतंक एवं प्रलय को निमन्त्रण मिलता है। अहिंसा आत्म-कल्याण में सहायक है, इसमें कहीं कोई शंका नहीं, किन्तु यह विश्वमैत्री एवं प्राणिजगत् के सहअस्तित्व के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है, इसे भी समझने की आवश्यकता है। आज पर्यावरण-प्रदूषण का बहुत बड़ा संकट है। इस संकट पर भी विजय प्राप्त करने में अहिंसा कारगर सिद्ध हो सकती है। जल, वायु एवं पृथ्वी में जीवन है, जैन धर्म का यह सिद्धान्त समझ लिया जाए तो इनके प्रदूषण एवं दुरुपयोग से एक हद तक बचा जा सकता है। कई बार हिंसा निष्प्रयोजन भी की जाती है- इसे अनर्थदण्ड कहा जाता है। इस अनर्थदण्ड से भी बचने का यदि मानव संकल्प ग्रहण कर ले तो विश्व की अनेक समस्याएँ टाली जा सकती हैं। विकसित मनुष्य हिंसा का नहीं, अहिंसा का ही समर्थन कर सकता है। कहा भी है- **'एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।'** ज्ञानी होने का सार यही है कि वह किसी की भी हिंसा नहीं करता। यहाँ हिंसा का तात्पर्य मात्र दूसरे प्राणियों का वध करना नहीं है, अपितु उन्हें परिताप देना, अशान्त बनाना, गुलाम बनाना, शोषण करना आदि भी हिंसा है। आज मानवजाति के वास्तविक विकास एवं विश्व के सम्पूर्ण कल्याण के लिए हिंसा के इन रूपों को भी छोड़ने की आवश्यकता है। अहिंसा भयभीतों को अभय एवं शरण प्रदान करती है, इसलिए यह भगवती है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है- **अहिंसा तस.थावर सव्वभूयखेमंकरी**-अहिंसा त्रस (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) एवं स्थावर (पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक एवं वनस्पतिकायिक) सभी प्राणियों का क्षेम/ कल्याण करने वाली है। इस प्रकार अहिंसा जहाँ आत्म-कल्याण में सहायक है वहाँ

विश्वकल्याण में भी उपादेय है।

सत्य, अचौर्य एवं ब्रह्मचर्य व्रत भी इसी प्रकार उभयविध कल्याणकारी हैं। सत्य जहाँ स्वयं को प्रामाणिक एवं विश्वसनीय बनाता है वहाँ सत्यवादी जगत् का भी हित ही करता है। असत्य जहाँ छलावे एवं धोखे का मार्ग है वहाँ सत्य विश्वास एवं मित्रता का मार्ग प्रशस्त करता है। झूठे का कोई टिकाऊ मित्र नहीं होता, किन्तु हितकारी सत्य का आचरण करने वाले को सम्पूर्ण लोक चाहता है। अचौर्यव्रत का पालन करने वाले को सम्पूर्ण लोक चाहता है। अचौर्यव्रत का पालन करने पर बल दिया जाए एवं उसे विश्वकल्याण के पथ के रूप में प्रस्तुत किया जाए तो संसार से भ्रष्टाचार का निवारण किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य एक ऐसा व्रत है जो एड्स जैसे रोगों पर नियन्त्रण पाने में सहायक सिद्ध हो सकता है। इससे दाम्पत्य जीवन भी विश्वसनीय बनता है, जिसका परिणाम है– पारिवारिक जीवन में शान्ति एवं सद्भाव का वातावरण। दूसरे शब्दों में व्यक्ति यदि अपनी इच्छाओं पर संयम करना प्रारम्भ कर दे तो संसार की बहुत सी समस्याएँ स्वतः समाप्त हो सकती हैं।

विश्वकल्याण में अपरिग्रह व्रत की महत्त्वपूर्ण भूमिका संभव है। यह मनुष्य की इच्छाओं पर संयम रखने का पाठ सिखाता है तथा विश्व की वस्तुओं के प्रति ममता एवं आसक्ति को तोड़ने की शिक्षा देता है। आज अधिकतर समस्याएँ परिग्रह की भावना के कारण उत्पन्न एवं विकसित हुई हैं। अकेला अमेरिका विश्व की 70 प्रतिशत से अधिक सुविधाओं का उपभोग कर रहा है, तथापि वह संतुष्ट नहीं है। मनुष्य की ये बढ़ती हुई इच्छाएँ दूसरे मनुष्य के मूल्य को कम आंक कर वस्तु–संग्रह में ही सुख ढूंढती रहती हैं। भगवान महावीर ने कहा है कि इच्छाओं का अन्त होना कठिन है। वे आकाश के समान

- **अपरिग्रह व्रत मनुष्य की इच्छाओं पर संयम रखने का पाठ सिखाता है तथा विश्व की वस्तुओं के प्रति ममता एवं आसक्ति को तोड़ने की शिक्षा देता है।**
- **मनुष्य समझता है कि इच्छाओं की पूर्ति से ही सुख या आनन्द की प्राप्ति होगी, किन्तु यह उसका भ्रम है, क्योंकि एक इच्छा की पूर्ति नई इच्छा को जन्म दे जाती है।**
- **जब तक इच्छाओं पर संयम नहीं होगा, विश्व शान्ति एवं समृद्धि का आनन्द नहीं लिया जा सकेगा।**
- **जैन धर्म आत्मकल्याणकारी नहीं, अपितु विश्व–कल्याण कारी भी है।**

अनन्त हैं– **'इच्छा हु आगाससमा अणंतिया'**। एक व्यक्ति को तीनों लोकों का साम्राज्य भी सौंप दिया जाए तो भी वह संतुष्ट होने वाला नहीं है। असीमित परिग्रह को रोकने के लिए साम्यवाद आया, किन्तु इच्छाओं पर नियन्त्रण का पाठ नहीं पढ़ाया गया, दूसरों की सुख–सुविधाओं को महत्त्व देने की शिक्षा नहीं दी गई। अतः साम्यवाद सफल नहीं हो पाया। अपरिग्रह का सूत्र मानव को संतुष्टि एवं विकास–दोनों का मार्ग प्रशस्त करता है। परिग्रह ही बन्धन का मूल कारण है।

आज उपभोक्तावादी संस्कृति में विज्ञापन आदि के माध्यम से नई नई इच्छाओं को जन्म दिया जाता है, फिर मनुष्य इन इच्छाओं की पूर्ति के लिए व्याकुल हो उठता है। वह समझता है कि इच्छाओं की पूर्ति से ही सुख या आनन्द की प्राप्ति होगी, किन्तु यह उसका भ्रम है, क्योंकि एक इच्छा की पूर्ति नई इच्छा को जन्म दे जाती है और इच्छा की उत्पत्ति एवं पूर्ति का क्रम निरन्तर चलता रहता है। बहुत सी इच्छाएँ ऐसी भी होती हैं जो कभी पूरी नहीं होती। उनकी अपूर्ति का दुःख मानव को दुःखी बनाए रखता है। एक सन्त का कहना है कि इच्छा या कामना की पूर्ति के पश्चात् पुनः वही अवस्था आ जाती है जो कामना की उत्पत्ति के पूर्व थी। इसलिए भगवान महावीर मनुष्य को अपनी वैषयिक इच्छाओं पर लगाम लगाने का संदेश देते हैं। यह सत्य है कि जब तक इच्छाओं पर संयम नहीं होगा, विश्व शान्ति एवं समृद्धि का आनन्द नहीं लिया जा सकेगा। बढ़ती इच्छाओं के कारण प्राकृतिक सम्पदाओं का आवश्यकता से अधिक दोहन किया जा रहा है, जो भावी मानव पीढ़ी के लिए संकट उपस्थित कर सकता है।

भगवान महावीर ने भोगोपभोग की सामग्री पर आत्मनियन्त्रण रखने के साथ परिग्रह की भी मर्यादा रखने की बात कही। विश्व में आवश्यक सुविधाएँ हों, किन्तु उन पर अधिकार जताने,उन्हें अपने अधीन रखने की प्रवृत्ति पर यदि अंकुश लग जाए तो यह विश्व विकास एवं कल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।

अनेकान्तवाद का सिद्धान्त मूलतः वस्तु के विश्लेषण से संबद्ध है, किन्तु यह मानव में एक सुलझी हुई दृष्टि का विकास करता है। अनेकान्तवाद का संदेश है कि मनुष्य सम्यक् रीति से सोचना एवं जानना सीखे। आग्रहबुद्धि को त्यागे एवं विभिन्न दृष्टिकोणों से समस्याओं का समाधान निकाले। इस सिद्धान्त को अपनाकर दो देशों, दो समाजों एवं दो व्यक्तियों में तनाव दूर किया जा सकता है।

इस प्रकार जैन धर्म आत्मकल्याणकारी नहीं, अपितु विश्व– कल्याणकारी भी है। इसे मात्र निवृत्तिपरक मानना उचित नहीं है। इसमें असंयम से निवृत्ति एवं संयम

में प्रवृत्ति का विधान है। मनुष्य अयोगी अवस्था में आए बिना प्रवृत्ति रहित नहीं हो सकता–इसलिए प्रवृत्ति तो करनी ही है, किन्तु वह प्रवृत्ति विवेकयुक्त हो, संयममय हो–यही ध्यान रखना है।

तात्पर्य यह है कि जैन धर्म के सिद्धान्तों को यदि विश्व समुदाय के समक्ष मानवजाति एवं विश्वकल्याण के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया जाए तो जिनशासन की तो प्रभावना होगी ही, साथ ही यह धर्म एक सीमित दायरे से निकलकर सबके लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सकेगा। **(अगस्त, 2002)**

विज्ञान और धर्म

विज्ञान और धर्म दोनों हमारे जीवन के लिए उपयोगी हैं। विज्ञान के दो पक्ष हैं– एक तो कारण–कार्य सिद्धान्त के आधार पर प्रयोगधर्मिता और दूसरा उसके आधार पर विकसित तकनीकी। विज्ञान के इन दोनों पक्षों का अपना महत्त्व है, किन्तु कार्य–कारण सिद्धान्त के आधार पर जो प्रयोगधर्मिता है वह जीवन के वैचारिक विकास के लिए अधिक उपयोगी है और तकनीकी विकास से जो साधन उपलब्ध हुए हैं, उनसे जीवन सुकर हुआ है।

वैज्ञानिक सोच और धर्म एक–दूसरे के विरोधी नहीं, अपितु पूरक हैं। विज्ञान ने जहाँ परम्परागत धार्मिक अन्धविश्वासों को दूर किया है वहाँ धर्म ने विज्ञान एवं तकनीकी के कारण उपलब्ध भोग–सामग्रियों के प्रति उत्पन्न इच्छाओं पर नियन्त्रण का पाठ पढ़ाया है। वैज्ञानिक सोच जहाँ व्यक्ति को प्रयोगधर्मी बनाती है वहाँ धार्मिक आस्था व्यक्ति को तनाव की विभिन्न अवस्थाओं से राहत पहुँचाती है। विज्ञान के कारण जहाँ शारीरिक रोगों के निवारण हेतु चिकित्सा केन्द्र सुलभ हुए हैं (तथा अत्यल्प संख्या में मनोचिकित्सा केन्द्र भी उपलब्ध हैं) वहाँ धर्म से आत्मिक और मानसिक रोगों की सहज चिकित्सा

- **विज्ञान और धर्म दोनों हमारे जीवन के लिए उपयोगी हैं।**
- **विज्ञान ने जहाँ परम्परागत धार्मिक अन्धविश्वासों को दूर किया है वहाँ धर्म ने विज्ञान एवं तकनीकी के कारण उपलब्ध भोग–सामग्रियों के प्रति उत्पन्न इच्छाओं पर नियन्त्रण का पाठ पढ़ाया है।**
- **धर्म के साथ भी प्रज्ञा का होना आवश्यक है।**
- **धर्म के भी दो रूप हैं– एक वह धर्म जो सीधा आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है, आत्मशुद्धि और कर्मक्षय ही जिसका कार्य है। धर्म का दूसरा रूप व्यावहारिक जगत् से जुड़ा हुआ है।**
- **विज्ञान जहाँ व्यक्ति को क्षणिक और नश्वर सुखों के प्रति आकृष्ट कर रहा है वहाँ धर्म स्थायी सुख एवं अपरिमित आनन्द का मार्ग प्रशस्त करता है।**

होती है।

धर्म और विज्ञान के कार्यों में महान् भेद है। विज्ञान जीवन–मूल्यों की बात नहीं करता, धर्म जीवन–मूल्यों को महत्त्व देता है। नैतिकता, ईमानदारी, प्रामाणिकता, सहनशीलता, स्वावलम्बन, स्वदोष दर्शन, आत्म–परिष्कार आदि मूल्य धर्माचरण से आगे बढ़ते हैं। वैज्ञानिक सुख–सुविधाओं का उपभोग करने वाला भ्रष्टाचारी, बेईमान और दुराचारी भी हो सकता है। धर्म में जहाँ 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का सिद्धान्त कार्य करता है वहाँ वैज्ञानिक सुख–सुविधाओं का उपभोक्ता अत्यन्त स्वार्थी भी हो सकता है। वैज्ञानिक सोच का अपना महत्त्व है। किन्तु वैज्ञानिक सोच वाले व्यक्ति बहुत कम मिलते हैं। अधिकतर व्यक्ति तो विज्ञान और तकनीकी के द्वारा विकसित सुख–सुविधाओं का अधिकतम उपभोग करने की मानसिकता वाले हैं। उपभोग की इन वस्तुओं का साधन तो धन है। जिसके पास जितना अधिक धन है वह उतने ही अधिक साधन जुटा सकता है। उसे यह जानने की आवश्यकता नहीं होती कि सुख–सुविधा के साधन का निर्माण कैसे हुआ है।

विज्ञान के साथ तकनीकी का संबंध है। तकनीकी के विकास के साथ विभिन्न प्रकार की सुख–सुविधा प्रदान करने वाली वस्तुओं का विकास हुआ है। इन वस्तुओं के प्रति आम उपभोक्ता का आकर्षण बढ़ा है। क्योंकि इनके उपयोग से उसे सुविधाओं का अनुभव हुआ है। आज विज्ञान के द्वारा विकसित विद्युत आम व्यक्ति की आवश्यकता बन गई है। विद्युत के साथ ही उससे चलने वाली अनेक वस्तुएँ घर की जरूरत बनती जा रही है। वाहनों की सड़कों पर रेलमपेल है। वायुयान की यात्रा सुकर लगने लगी है। हाथ से मोबाइल छूटता नहीं है। तात्पर्य यह है कि विज्ञान ने मानव को बहुत कुछ दिया है। जीवनशैली

- **धर्मों के द्वारा निरूपित जीवन–मूल्यों का शिक्षण नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा के रूप में दिया जाना आवश्यक है।**
- **भावी पीढ़ी विज्ञान के साथ धर्म का भी महत्त्व समझे, उसे प्रज्ञा–पूर्वक आचरण में स्थान दे तो विभिन्न पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं से छुटकारा पाया जा सकता है।**
- **धार्मिक आस्थाओं ने एवं दार्शनिक सिद्धान्तों ने मनुष्य को कठिन परिस्थितियों में भी मानसिक बल प्रदान किया है।**
- **वैज्ञानिक विकास के साथ मनुष्य की इच्छाओं में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। इच्छा की पूर्ति नहीं होने पर तनाव और दुःख के अवसर बढ़ते हैं।**

निरन्तर बदलती जा रही है। पहले सैकड़ों वर्षों में जीवनशैली में इतना बदलाव नहीं आता था, जितना आज हर दशक में देखा जा रहा है। वैज्ञानिक उपकरणों ने जीवन को सुविधा-सम्पन्न तो बनाया है, किन्तु परावलम्बन की ओर भी धकेला है, जबकि धर्म स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाता है। परावलम्बन सुख का नहीं दुःख का स्रोत है।

धर्म के साथ भी प्रज्ञा का होना आवश्यक है। मात्र रूढ़िवाद धर्म नहीं है, मात्र कर्मकाण्ड धर्म नहीं है, उसके साथ आत्मिक शुद्धि के भावों का जुड़ना आवश्यक है। धर्म बाह्य सुख-सुविधाओं और जीवन की नश्वरता का बोध कराता है तथा आत्मिक शाश्वत सुख को प्राप्त करने की ओर अग्रसर करता है। इस दृष्टि से 'धर्म' विज्ञान से बढ़कर है। विज्ञान के प्रयोग मूर्त्त पदार्थों तक सीमित हैं जबकि धर्म अमूर्त आत्मा को विषय करता है। वह आत्मा का स्वभाव भी है। जब कोई सत्-असत् के बोध के साथ आत्म-धर्म में स्थित होता है तो वह अपने कर्त्तव्य रूपी धर्म का भी सम्यक् पालन करता है।

धर्म के भी दो रूप हैं- एक वह धर्म जो सीधा आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है, आत्मशुद्धि और कर्मक्षय ही जिसका कार्य है। धर्म का दूसरा रूप व्यावहारिक जगत् से जुड़ा हुआ है। यह धर्म देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित भी हो सकता है। यह धर्म धारण किया जाता है। 'धार्यते असौ इति धर्मः'। यह परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के प्रति कर्त्तव्यों का भी बोध कराता है। इसीलिए शास्त्र में ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदि का उल्लेख आता है। धर्म का यह रूप बाह्य या व्यावहारिक है। उसका पारमार्थिक रूप तो आत्मशुद्धि या मुक्ति है।

धर्म का स्वरूप विभिन्न युगों में कैसा भी हो रहा हो उसमें विकृतियाँ भी आती रही हों, किन्तु उसने मानव जाति का बहुत बड़ा उपकार किया है। आज भी भारत में यदि धार्मिक आस्था न हो तो मानसिक रूप से विक्षिप्त व्यक्तियों की संख्या आज से पचासों गुनी हो सकती है। कष्ट, वियोग, हानि, पीड़ा आदि के समय व्यक्ति सोचता है कि यह मेरे पूर्व कर्मों का फल है और ऐसा सोचकर वह अपने में उनको सहन करने की शक्ति का विकास कर लेता है।इसी प्रकार ईश्वर में आस्था रखने वाला धार्मिक व्यक्ति उसे ईश्वर का प्रसाद समझकर सहर्ष सहन कर लेता है। कोई इसे अपने भाग्य का फल मानकर बिना किसी उद्विग्नता के सहन करता है। इस प्रकार धार्मिक आस्थाओं ने एवं दार्शनिक सिद्धान्तों ने मनुष्य को कठिन परिस्थितियों में भी मानसिक बल प्रदान किया है। विज्ञान ने तो मानसिक तनाव को ही बढ़ाया है।

वैज्ञानिक विकास के साथ मनुष्य की इच्छाओं में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

इच्छा की पूर्ति नहीं होने पर तनाव और दुःख के अवसर बढ़ते हैं। शारीरिक रूप से भी व्यक्ति अधिक अस्वस्थ होते जाते हैं। उच्च रक्तचाप, हृदयाघात, मधुमेह, केन्सर आदि रोगों से ग्रस्त व्यक्तियों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। धर्म के साथ यम-नियम जुड़ें हुए हैं, जिनमें इच्छाओं पर नियन्त्रण होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के प्रति आस्था और पालन के प्रति सजगता होती है जिससे व्यक्ति को अनुपम आनन्द का अनुभव होता है।

विज्ञान जहाँ व्यक्ति को क्षणिक और नश्वर सुखों के प्रति आकृष्ट कर रहा है वहाँ धर्म स्थायी सुख एवं अपरिमित आनन्द का मार्ग प्रशस्त करता है। विज्ञान एक स्वच्छन्द जीवन की ओर प्रलोभित करता है, वहाँ धर्म उस पर संयम की लगाम लगाता है। धर्मरहित विज्ञान व्यक्ति एवं विश्व के विनाश का निमित्त हो सकता है। क्योंकि विज्ञान ने अत्यन्त शक्तिशाली बमों का भी विकास किया है।

विज्ञान के तकनीकी विकास ने व्यक्ति के जीवन में इतना अधिक प्रवेश कर लिया है कि व्यक्ति आत्मिक चिन्तन, योग और साधना के लिए भी समय नहीं निकाल पा रहा है। विज्ञान के द्वारा दी गई सुविधाएँ निश्चित रूप से आश्चर्यकारी हैं। सूचना तकनीक का भी जबरदस्त विकास हुआ है। नई पीढ़ी का ज्ञान भी समृद्ध हुआ है, किन्तु इसके साथ ही संयम, नैतिकता, इच्छा-नियन्त्रण, दूसरों के प्रति आत्मवत् भाव, पारस्परिक सहयोग का भाव आदि का भी प्रशिक्षण अनिवार्य है।

धर्मों के अलग-अलग होने के कारण शिक्षा जगत् में विज्ञान का तो स्थान है, किन्तु धर्म-शिक्षण का कोई स्थान नहीं है। मतभेद के कारण किसी एक धर्म का शिक्षण भले ही न दिया जाए, किन्तु धर्मों के द्वारा निरूपित जीवन-मूल्यों का शिक्षण नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा के रूप में दिया जाना आवश्यक है। इंजीनियरिंग, मेडीकल विज्ञान के कई छात्र-छात्राओं का आज एकांगी विकास हो रहा है। यही कारण है कि वे उच्छृंखलता और असंयम की ओर अधिक बढ़ते हैं। बड़े होकर भी उनमें भ्रष्टाचार का प्रवेश शीघ्र हो जाता है। भावी पीढ़ी विज्ञान के साथ धर्म का भी महत्त्व समझे, उसे प्रज्ञापूर्वक आचरण में स्थान दे तो विभिन्न पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं से छुटकारा पाया जा सकता है। **(नवम्बर, 2004)**

तपोमय श्रमण–जीवन

श्रमण–श्रमणी का जीवन अहिंसा, संयम एवं तपरूप धर्म का अनूठा संगम होता है। उन्हें परीषहों एवं उपसर्गों में भी अविचलित रहने का अभ्यास करना होता है। श्रमण–श्रमणियों के एक स्थान पर रहने एवं विचरण–विहार के भी विशेष नियम होते हैं। वे गृहस्थों को जीवन में व्रती एवं निष्कलुष बनने की प्रेरणा करते हैं। गृहस्थ भी उन्हें 'तिक्खुत्तो' के पाठ से 'मत्थएण वंदामि' शब्दों से अथवा 'खमासमणो' के पाठ से वन्दन करते हैं। साधु–साध्वी वेश के कारण नहीं, अपितु उनके पंच महाव्रतों, पाँच समितियों, तीन गुप्तियों एवं ज्ञानपूर्वक समत्व की साधना के कारण वन्दनीय और पूजनीय होते हैं। बाह्य वेशभूषा तो प्रतीक है, किन्तु वैराग्य, आत्मार्थिपन,पारस्परिक सहयोग एवं निभने–निभाने की कला जब तक श्रमण–श्रमणी जीवन में नहीं होगी तब तक वह जीवन गृहस्थों के लिए प्रेरणाप्रद नहीं बनता।

साधु–साध्वियों को जीवन में तपना होता है। उन्हें आचार्यों, गुरुवर्यों, गुरुणियों या गच्छप्रमुखों के वचनों को हितकारी मानकर स्वीकार करना होता है। आज्ञा देने वाले गुरुवर्यों की भी भावना में हित का भाव निहित होना चाहिए। संयम का पालन प्रेमपूर्वक ही हो सकता है,

- **साधु–साध्वी वेश के कारण नहीं, अपितु उनके पंच महाव्रतों, पाँच समितियों, तीन गुप्तियों एवं ज्ञानपूर्वक समत्व की साधना के कारण वन्दनीय और पूजनीय होते हैं।**
- **साधु–साध्वियों को जीवन में तपना होता है। उन्हें आचार्यों, गुरुवर्यों, गुरुणियों या गच्छ–प्रमुखों के वचनों को हितकारी मानकर स्वीकार करना होता है।**

- **साधु–साध्वी को अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों परिस्थितियों में समता की साधना करनी होती है। जो इसमें खरे उतरते हैं, अपने मन को आगम–वाक्यों से एवं गुरु–वचनों से समझाने में सक्षम होते हैं वे अपने आपको संयम की उच्चता में स्थिर कर लेते हैं।**

- **श्रमण-श्रमणी का जीवन आचार के विविध नियमों से संचालित होता है, उन नियमों के पालन के साथ महत्त्वपूर्ण हैं मन की सरलता, सहिष्णुता, क्षमा-शीलता।**
- **बौद्धों में तो ऐसी परम्परा भी है कि कोई भी व्यक्ति पाँच-दस वर्ष तक भिक्षु रहने का अभ्यास कर सकता है तथा फिर उसे छोड़ सकता है। वहाँ यह आम बात है, किन्तु जैन समाज में ऐसा करना अमान्य है।**
- **यदि साधु-साध्वी उस प्रायश्चित्त का पालन न करें तो आचार्य को उस साधु या साध्वी को संघ से बहिष्कृत करने का अधिकार होता है।**
- **यदि बहिष्कृत मुनि को संघ में सम्मिलित मुनि की भाँति ही आदर सम्मान देकर पूज्य माना जाता है तो इससे आचार्य के आदेश की अवहेलना होती है एवं धर्माचरण के श्रेष्ठ स्वरूप का अवमूल्यन होता है।**
- **मानवता की बात अलग है, किन्तु पूज्यता की बात उससे भिन्न है। उनसे अपराध एवं दोष अवश्य हुआ है, किन्तु इससे वे द्वेष्य नहीं होते।**

जबरदस्ती से संयम का पालन नहीं कराया जा सकता। हाँ, संयम एवं अनुशासन में रहने की बात को बार-बार समझाया जा सकता है, प्रेमपूर्वक समझाया जा सकता है। यदि वह समझाने पर भी न माने तो उस साधु या साध्वी को संघ से निष्कासित कर दिया जाता है।

साधु-साध्वी का जीवन अंगीकार करना आसान है, किन्तु उसका निर्वाह करना सचमुच कठिन है। साधु-साध्वियों को गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं द्वारा वन्दनपूर्वक आदर दिया जाता है, उनके भिक्षा हेतु घर पधारने पर प्रमोद का अनुभव कर यथेच्छ वस्तु बहरायी जाती है। जो साधु-साध्वी इसे पाकर अपने को उत्कृष्ट समझने लगते हैं वे संयम की राह से भटक जाते हैं, फिर उन्हें प्रतिकूल परिस्थितियाँ खारी लगती हैं। कहीं उनका आदर न हो, अपमानकारी शब्दों का प्रयोग हो जाए, तो उन्हें नहीं सुहाता। वे अपने को पूर्ण ज्ञानी मानने लगते हैं। अपने गच्छ या संघाड़े में उन्हें कोई सीख दी जाए तो उनका मन उद्वेलित हो उठता है। साधु-साध्वी को अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों परिस्थितियों में समता की साधना करनी होती है। जो इसमें खरे उतरते हैं, अपने मन को आगम-वाक्यों से एवं गुरु-वचनों से समझाने में सक्षम होते हैं वे अपने आपको संयम की उच्चता में स्थिर कर लेते हैं। कई साधु-साध्वी उपदेश भी अच्छा दे लेते हैं, किन्तु भीतर में कषायों की अग्नि शान्त नहीं कर पाते। ईर्ष्या-द्वेष, मानापमान की अग्नि

में जलने लगते हैं। अपनी यश–कीर्ति के लिए गृहस्थों को वे अपने मनचाहे कार्यक्रमों का आयोजन करने के लिए हाँकते रहते हैं। इससे उनकी प्रसिद्धि तो होती है, किन्तु आत्म–साधना से वे दूर हो जाते हैं। गृहस्थ यदि उनके अनुकूल नहीं चलते हैं तो वे उनमें अनिष्टादि का भय उत्पन्न कर अपना कार्य सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। वे जोड़–तोड़ का मार्ग अपनाने लगते हैं। इसका तात्पर्य है कि वे साधुता के स्वरूप से भ्रष्ट हो जाते हैं। आज ऐसे भी साधु–साध्वी हैं जो छद्मरूप में धन–संग्रह करते रहते हैं, किन्तु इसे अकिंचन साधु–जीवन के लिए उचित नहीं कहा जा सकता।

श्रमण–श्रमणी का जीवन आचार के विविध नियमों से संचालित होता है, उन नियमों के पालन के साथ महत्त्वपूर्ण हैं मन की सरलता, सहिष्णुता, क्षमाशीलता। जिस गच्छ में वे रहते हैं उस गच्छ के सदस्यों के साथ परस्पर प्रेम एवं मैत्री का भाव होना चाहिए। यह तभी होगा जब छोटे सन्त–सती सेवा में सदैव तत्पर रहेंगे तथा बड़े भी उनकी सुविधा का ध्यान रखेंगे। बड़ों का यह दायित्व है कि वे अपने गच्छ के साधुओं या साध्वियों में भेदभाव का व्यवहार न करें, सबके साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार रखें। साधु–साध्वियों का अधिकांश समय स्वाध्याय, ध्यान एवं ज्ञान–चर्चा में व्यतीत होना चाहिए। जो साधु–साध्वी गृहस्थों के जीवन में रुचि लेने लगते हैं, उनसे अकरणीय बातें करने लगते हैं, जो साधु–साध्वी अपने विपरीत लिंगी युवा श्रावक–श्राविकाओं से घिरे रहते हैं वहाँ विकार का प्रवेश प्रायः हो ही जाता है। उनके मन में फिर साधुत्व को छोड़कर गृहस्थ बनने की भावना उत्पन्न हो जाती है।

- **श्रावक–श्राविकाओं को चाहिए कि वे श्रमण–श्रमणियों की साधना में सहायक बनें। उनके संयम को पतित करने तथा आचार–पालन में उन्हें शिथिल बनाने में निमित्त न बनें।**
- **साधु–साध्वी स्वाध्याय के माध्यम से अपने ज्ञान के प्रकाश में अपना निरीक्षण कर निर्दोषता की ओर बढ़ें। स्व–अनुशासन के अमोघ सूत्र को जीवन में स्थान दें।**

ऐसे श्रमण स्वयं श्रमणवेश का त्याग कर गृहस्थ वेश धारण कर लेते हैं। किन्तु जैन समाज में फिर उनकी प्रतिष्ठा नहीं रहती। क्योंकि जो समाज पहले जिन्हें पूज्य मानकर वन्दना करता रहा है, वे ही जब गृहस्थ बन जायें तो समाज की श्रद्धा को धक्का पहुँचता है, फिर समाज उन्हें देखना भी पसंद नहीं करता। बौद्धों में तो ऐसी परम्परा भी है कि कोई भी व्यक्ति पाँच–दस वर्ष तक भिक्षु रहने का अभ्यास कर सकता है तथा फिर उसे छोड़ सकता है। वहाँ यह आम बात है, किन्तु जैन समाज में

ऐसा करना अमान्य है।

कभी श्रमणाचार के पालन में शिथिलता के कारण आचार्य द्वारा प्रायश्चित्त दिया जाता है। यदि साधु-साध्वी उस प्रायश्चित्त का पालन न करें तो आचार्य को उस साधु या साध्वी को संघ से बहिष्कृत करने का अधिकार होता है। ऐसी स्थिति में वह साधु (प्रायः साध्वी नहीं) एकाकी विचरण करने लगता है। आज्ञा से बाहर किए गए ऐसे एकाकी साधुओं का आगमिक दृष्टि से संघ में कोई स्थान नहीं रहता। अबहिष्कृत साधुओं के भी आगमों में एकाकी विचरण पर बहुत से प्रतिबंध हैं, तब बहिष्कृत साधुओं का तो कहना ही क्या! बहुश्रुत साधुओं के भी एकाकी रहने पर व्यवहार सूत्र में निषेध है, यथा-

नो कप्पइ बहुस्सुयस्स बब्भागस्स एगणियस्स।
भिक्खुस्स वत्थए किमंग पुण अप्पसुयस्स अप्पागमस्स।।

-व्यवहार सूत्र 6.14

बहुश्रुत और बहु आगमज्ञ भिक्षु को भी अकेले रहना नहीं कल्पता है तो अल्पश्रुत एवं अल्प आगमज्ञ भिक्षु को कैसे कल्प सकता है? अर्थात् नहीं।

आचारांग सूत्र में कहा है कि जो भिक्षु अपरिपक्व अवस्था में है उसका अकेले ग्रामानुग्राम विहार करना दुःखप्रद और पतन का कारण होता है- **गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जातं दुप्परक्कंतं भवति अवियत्तस्स भिक्खुणो।**

प्रश्न यह होता है कि धर्मसंघ से आचार्य के द्वारा बहिष्कृत मुनियों के साथ श्रावकों का किस प्रकार का व्यवहार हो? यदि बहिष्कृत मुनि को संघ में सम्मिलित मुनि की भाँति ही आदर सम्मान देकर पूज्य माना जाता है तो इससे आचार्य के आदेश की अवहेलना होती है एवं धर्माचरण के श्रेष्ठ स्वरूप का अवमूल्यन होता है। साथ ही ऐसे सदोष एकाकी मुनियों को प्रोत्साहन मिलता है। यह व्यवहार सत्य है कि संघ में रहकर जो आचार पालन हो सकता है वह एकाकी रहने पर संभव नहीं है। इसलिए श्रावकों का दायित्व होता है कि वे ऐसे संतों की प्रवृत्ति को बढ़ावा न दें। मानवता की बात अलग है, किन्तु पूज्यता की बात उससे भिन्न है। धर्मसंघ से निष्कासित एकाकी संतों के साथ मानवीय व्यवहार हो सकता है, किन्तु श्रद्धा एवं पूज्यता का व्यवहार उचित नहीं कहा जा सकता। हाँ, उनके प्रति द्वेषभाव भी उचित नहीं। कई बार लोग उनसे घृणा एवं द्वेष करने लगते हैं, किन्तु एक धार्मिक पुरुष-स्त्री को ऐसा करना शोभा नहीं देता। उनसे अपराध एवं दोष अवश्य हुआ है, किन्तु इससे वे द्वेष्य नहीं होते।

कई संत मंत्र-तंत्र आदि के प्रयोग द्वारा लोगों को आकर्षित करते हैं और

स्वार्थवश लोग भी उनके पास जाने में रुचि रखते हैं, वे कभी हाथ देखकर भविष्य बताते हैं तो कभी धन का नुस्खा बताने लगते हैं, किन्तु धर्म एवं अध्यात्म की दृष्टि से इस प्रवृत्ति को कदापि उपादेय नहीं माना जा सकता।

श्रमण-श्रमणी का जीवन तप,संयम, सहिष्णुता, क्षमाभाव और पंच महाव्रतों के निरतिचार पालन से दीप्तिमान होता है। उनका जीवन समत्व की साधना का आदर्श होता है, जो साधु-साध्वी संसार से अनासक्ति का उपदेश ही नहीं देते, आचरण भी करते हैं तथा आगन्तुकों की समस्याओं का समाधान प्रभु की वाणी के आचरण में बतलाते हैं, उनकी प्रतिष्ठा न चाहते हुए भी स्वतः होती है। श्रावक-श्राविकाओं को चाहिए कि वे श्रमण-श्रमणियों की साधना में सहायक बनें। उनके संयम को पतित करने तथा आचार-पालन में उन्हें शिथिल बनाने में निमित्त न बनें। श्रावक-श्राविका तो साधु-साध्वियों के माता-पिता के तुल्य होते हैं, जो उनके आचार की रक्षा का ध्यान रखते हैं तथा साधना में उपस्थित कठिनाइयों का निवारण करते हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि साधु-साध्वी स्वाध्याय के माध्यम से अपने ज्ञान के प्रकाश में अपना निरीक्षण कर निर्दोषता की ओर बढ़ें। स्व-अनुशासन के अमोघ सूत्र को जीवन में स्थान दें। संघनायक या गच्छनायक को कहीं कहने या टोकने की भी स्थिति उत्पन्न न हो। इससे श्रमण-श्रमणियों को तो आनन्द का अनुभव होगा ही, साधना का उच्चतर स्वरूप भी अभिव्यक्त होगा। जिससे श्रावक-श्राविकाओं में भी प्रेरणा का दीपक जल सकेगा। आचार की दृष्टि से जैन श्रमण-श्रमणियों का आचार उच्चकोटि का है जिसमें व्यवहार और परमार्थ दोनों को शुद्ध रखने पर बल दिया गया है। (जुलाई, 2006)

साधना के दो अंग : संवर एवं निर्जरा

जैन धर्म में साधना के दो अंग प्रतिपादित हैं–1. संवर और 2. निर्जरा। संवर के माध्यम से मन, वचन एवं काया की अशुभ प्रवृत्तियों को नियन्त्रित किया जाता है तथा निर्जरा में तप के द्वारा पूर्व बद्धकर्मों को निर्जरित किया जाता है। साधना का कोई भी रूप हो वह संवर एवं निर्जरा में समाविष्ट हो जाता है।

- **आस्रव एवं बन्ध तत्त्व जहाँ बन्धन की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हैं वहाँ संवर एवं निर्जरा तत्त्व मुक्ति की प्रक्रिया का प्रतिपादन करते हैं।**
- **कोई भी साधना हो, वह संवर एवं निर्जरा का साधन तभी बनेगी जब उसे निर्मलतापूर्वक किया गया हो।**
- **जो प्रवृत्ति मात्र हमारे भौतिक सुख से जुड़ी हो, मोह–ममता से जुड़ी हो वह आस्रव एवं बन्ध का कारण बनती है, किन्तु जो प्रवृत्ति स्व–पर का हित करने वाली हो, मोह एवं कषायों पर विजय दिलाने वाली हो, व्यापकता, उदारता आदि से सम्पन्न हो वह संवर एवं निर्जरा का कारण बनती है।**

मानव रंक हो या राजा, निर्धन हो या धनवान, सबको सामान्यतः तीन प्राकृतिक साधन प्राप्त हैं– 1. मन 2. वचन एवं 3. काया। इन तीनों की सत्प्रवृत्ति उसके जीवन को धन्य बनाती है तथा दुष्प्रवृत्ति उसे बर्बाद कर देती है। दुष्प्रवत्ति कर्मास्रव एवं कर्मबन्ध का कारण बनती है, जबकि सत्प्रवृत्ति संवर एवं निर्जरा में साधन बनती है। मनुष्य को निर्मल बनना है, पूर्वबद्ध कर्मों को क्षीण करना है तो उसे संवर एवं निर्जरा की साधना को अपनाना ही होगा।

जैन धर्म में नव तत्त्वों का प्रतिपादन बन्धन एवं मुक्ति की प्रक्रिया को समझने की दृष्टि से किया जाता है। उन तत्त्वों में आस्रव एवं बन्ध तत्त्व जहाँ बन्धन की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हैं वहाँ संवर एवं निर्जरा तत्त्व मुक्ति की प्रक्रिया का प्रतिपादन करते हैं। पुण्य एवं पाप उस प्रवृत्ति की शुभता एवं अशुभता को बताने के साथ कर्मों की शुभता एवं अशुभता को भी इंगित करते हैं।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में आस्रव एवं संवर का विशद तथा विस्तृत निरूपण हुआ है। वहाँ पर आस्रव के पाँच प्रकार बताये गए हैं– 1. हिंसा 2. झूठ 3.चोरी 4. मैथुन सेवन और 5. परिग्रह। इसके विपरीत संवर के पाँच प्रकार प्रतिपादित हैं– 1. अहिंसा 2. सत्य 3. अचौर्य 4. ब्रह्मचर्य और 5 अपरिग्रह।

कर्मग्रन्थ में आस्रव के पाँच प्रकार इस प्रकार हैं – 1. मिथ्यात्व 2. अविरति 3. प्रमाद 4. कषाय और 5. अशुभयोग। इन पाँचों के कारण कर्मबन्ध होता है, ये कर्मबन्ध के हेतु हैं, इसलिए इन्हें आस्रव कहा गया है। इस प्रकार आस्रव में मात्र मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति की ही गणना नहीं होती, अपितु इसमें आत्मा में आए हुए मिथ्यात्व, प्रमाद एवं कषाय की भी गणना होती है। इसके विपरीत संवर के भी 5 प्रकार हैं–1. सम्यक्त्व 2. विरति 3. अप्रमाद 4. कषाय–विजय 5. शुभयोग।

तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव के निरोध को संवर कहा गया है– **'आस्रवनिरोधः संवरः'** (तत्त्वार्थसूत्र 9.1)। संवर के प्रकारों की गणना करते हुए वहाँ कहा है–**'स समितिगुप्ति–धर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः'** (तत्त्वार्थसूत्र 7.2) वह संवर पाँच समिति, तीन गुप्ति, दशविध धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा, 22 परीषह–विजय एवं चारित्र से होता है। निर्जरा के लिए मुख्य साधन 'तप' को बताया गया है– **'तपसा निर्जरा च'**। तप से संवर भी होता है एवं निर्जरा भी।

संयम हो या सामायिक, गुप्ति हो या समिति, महाव्रत हो या अणुव्रत, बाह्य तप हो या आभ्यन्तर, दयाव्रत हो या पौषध, सभी

- **जैन धर्म में अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मों का फल प्रदान करने के लिए ईश्वर की परिकल्पना नहीं की गयी। स्वयं आत्मा ही अपने कृत कर्मों का यथासमय फल भोग लेता है।**
- **कर्मपुद्गलों में फल प्रदान करने के स्वभाव, तीव्रता–मन्दता, कालावधि, प्रदेश संख्या आदि का कर्ता के भावों के अनुरूप स्वतः आधान हो जाता है।**
- **आत्म–निरीक्षण में अपने मन की प्रवृत्तियों का निष्पक्षता से अवलोकन करना सीख लें, तो अपने दोषों का बोध स्वयं को होने लगेगा।**
- **विचारों से ही शुभ प्रवृत्तियों एवं अशुभ प्रवृत्तियों का प्रारम्भ होता है।**
- **संयम हो या सामायिक, गुप्ति हो या समिति, महाव्रत हो या अणुव्रत, बाह्य तप हो या आभ्यन्तर, दयाव्रत हो या पौषध, सभी साधनाएँ संवर एवं निर्जरा की साधनाएँ हैं।**

साधनाएँ संवर एवं निर्जरा की साधनाएँ हैं। कोई भी साधना हो, वह संवर एवं निर्जरा का साधन तभी बनेगी जब उसे निर्मलतापूर्वक किया गया हो। यदि कोई भी साधना सांसारिक फलप्राप्ति के उद्देश्य से की जाती है तो वह कर्म-निर्जरा की दृष्टि से फलवती नहीं होती। वह आत्मविशुद्धि नहीं ला पाती। साधना की निर्मलता भावों की निर्मलता पर निर्भर करती है। भावों की निर्मलता सांसारिक सुखों के प्रति निरासक्ति से तथा मोहविजय से आती है।

जैनधर्म में कर्म-सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ पर अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मों का फल प्रदान करने के लिए ईश्वर की परिकल्पना नहीं की गयी। स्वयं आत्मा ही अपने कृतकर्मों का यथासमय फल भोग लेता है। इसमें कर्मपुद्गलों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। हम अच्छे या बुरे जैसे भी कार्य करते हैं, तथा उन कार्यों को करते समय जैसे हमारे भाव होते हैं, उनके अनुसार कर्मपुद्गल आकर्षित होकर आत्मा के साथ संबंध स्थापित कर लेते हैं। उन कर्मपुद्गलों में फल प्रदान करने के स्वभाव, तीव्रता-मन्दता, कालावधि, प्रदेश संख्या आदि का कर्ता के भावों के अनुरूप स्वतः आधान हो जाता है। वे कर्मपुद्गल ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र एवं अन्तराय कर्मों के रूप में परिणत हो जाते हैं। आयुष्य कर्म का बन्ध जीवन में एक ही बार होता है, शेष सात कर्म निरन्तर बंधते रहते हैं। ये कर्म ही समय आने पर फल प्रदान करते हैं।

जैन धर्म में इन कर्मों के पूर्ण क्षय को मोक्ष कहा गया है- **कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः**(तत्त्वार्थसूत्र 10.3)। कर्मों का पूर्णक्षय किस प्रकार हो इसके लिए ही संवर एवं निर्जरा की साधना है। संवर की साधना द्वारा नवीन कर्मों के आस्रव/आगमन को रोका जाता है। निर्जरा के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का स्थितिघात, रसघात करते हुए उन्हें निर्जरित किया जाता है।

प्रायः यह माना जाता है कि कोई भी कर्म फल दिए बिना निर्जरित नहीं होता, समाप्त नहीं होता। यह कथन सामान्य कथन है। जैन साधना में इसका अपवाद भी है। कर्मों को समय से पूर्व तीव्रता के साथ नष्ट/निर्जरित किया जा सकता है। यदि ऐसा संभव न हो तो कोई कभी मुक्त ही न हो सके। जैन दर्शन के अनुसार अनन्तकाल के कर्मों का तप के द्वारा तीव्रता से क्षय किया जा सकता है।

जैनदर्शन में उत्कर्षण, अपकर्षण, स्थितिघात, रसघात आदि का वर्णन प्राप्त होता है। उत्कर्षण जहाँ पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति एवं रस में वृद्धि का सूचक है वहाँ अपकर्षण उसमें कमी को प्रदर्शित करता है। पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति का घट जाना

स्थितिघात है एवं उस कर्म के रस/तीव्रता में कमी होना रसघात है। इसी प्रकार एक 'संक्रमण करण' शब्द आता है जो पूर्वबद्ध कर्म प्रकृति का वर्तमान में बंध रही कर्मप्रकृति में परिवर्तन बतलाता है। संक्रमण करण आधुनिक मनोविज्ञान के उदात्तीकरण आदि सिद्धान्तों से भी मेल खाता है। संक्रमण का एक नियम है कि वह कर्मों की अपनी उत्तरप्रकृतियों में ही होता है, एक कर्म का दूसरे कर्म में नहीं। उदाहरण के लिए ज्ञानावरण कर्म का दर्शनावरण आदि कर्मों में संक्रमण/परिवर्तन नहीं होता, किन्तु ज्ञानावरण की उत्तरप्रकृतियों/भेदों यथा मतिज्ञानावरण का श्रुतज्ञानावरण में संक्रमण हो सकता है।

कर्मसिद्धान्त का यह निरूपण अत्यन्त व्यवस्थित होने से वैज्ञानिक है। हमारा भविष्य कैसा होगा , इसके निर्माता हम स्वयं हैं। कहा भी गया है–**'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।'**

आत्मा ही अपने दुःख–सुख का कर्ता एवं विकर्ता है। यह मान्यता जैन दर्शन की अद्भुत विशेषता है। हमारे भाग्यविधाता हम स्वयं हैं, कोई अन्य नहीं।

हमारे भाव, मनःस्थिति, प्रवृत्ति आदि आस्रव एवं बन्ध को ही बढ़ावा दे रहे हैं, या उन पर कोई नियन्त्रण है? प्रवचन–श्रवण, तप, त्याग, प्रतिक्रमण आदि का आराधन एकाग्रतापूर्वक किया जाए तो संवर एवं निर्जरा का लाभ मिल सकता है।

मानव होने के नाते हम विकसित प्राणी हैं। हमारे मन में विचार उठते हैं। उन विचारों का यदि स्व–निरीक्षण करना प्रारम्भ हो जाय तो अहितकारी/पापकारी या कहें कि बन्धनकारी प्रवृत्तियों से बचा जा सकता है। आत्म–निरीक्षण में अपने मन की प्रवृत्तियों का निष्पक्षता से अवलोकन करना सीख लें, तो अपने दोषों का बोध स्वयं को होने लगेगा। अपने दोष का ज्ञान होने पर उससे सहज ही बचा जा सकता है। मनुष्य प्रायः अपने गुणों का अभिमान करते हुए दूसरों के दोषों पर दृष्टि रखता है, किन्तु इससे उसे हानि ही होती है। पर दोष दर्शन करने वाले के अपने ही दोष बढ़ते हैं। इसलिए संवर एवं निर्जरा की साधना पर आगे बढ़ने में आत्म–निरीक्षण महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है।

अपने विचारों का निरीक्षण क्यों किया जाय? इस प्रश्न के उत्तर में कहना होगा कि विचारों से ही शुभ प्रवृत्तियों एवं अशुभ प्रवृत्तियों का प्रारम्भ होता है। वे ही वाचिक एवं कायिक रूप ग्रहण करती हैं। हमारे विचारों की शुभता–अशुभता के कुछ मानदण्ड हो सकते हैं, यथा–जो प्रवृत्ति मात्र हमारे भौतिक सुख से जुड़ी हो, मोह–ममता से जुड़ी हो वह आस्रव एवं बन्ध का कारण बनती है, किन्तु जो प्रवृत्ति स्व–पर

का हित करने वाली हो मोह एवं कषायों पर विजय दिलाने वाली हो, व्यापकता, उदारता आदि से सम्पन्न हो वह संवर एवं निर्जरा का कारण बनती है। इसलिए बन्धनकारी प्रवृत्ति एवं असद्विचारों को त्याग कर सत्प्रवृत्ति को जीवन में स्थान देना चाहिए। बाह्य रूप से धर्मक्रिया करते हुए अन्तश्चेतना को शुभ एवं शुद्ध की ओर बढ़ायेंगे तो जीवन तनावरहित एवं आनन्दमय हो सकता है। **(अगस्त, 2001)**

जैन धर्म एकान्त निवृत्तिवादी नहीं

जैनधर्म के संबंध में प्राय: यह धारणा है कि यह निवृत्तिवादी धर्म है, इसमें प्रवृत्ति का विधान नहीं है। किन्तु यह धारणा एकान्तत: उचित नहीं है, क्योंकि भगवान महावीर ने पाप प्रवृत्तियों से निवृत्त होने का उपदेश दिया है, सत्प्रवृत्तियों से निवृत्त होने का नहीं।

प्रवृत्ति तो जीव करता ही रहता है। जब तक उसे मन, वचन एवं काया का योग प्राप्त है तब तक वह प्रवृत्ति करता ही है। तेरहवें गुणस्थान तक जीव की प्रवृत्ति चलती रहती है। इसलिए भगवान ने प्रवृत्ति का सीधा विधान न करके पाप प्रवृत्तियों को त्यागने या उनसे बचने का विधान किया है। इसे दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आगम में असंयम से निवृत्ति एवं संयम में प्रवृत्ति का विधान है, जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कथन किया गया है-

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियट्टिं च, संजमे य पवत्तणं।।

कई जैन धर्मावलम्बी यह कहते हैं कि दया, दान, करुणा, सहानुभूति, मैत्री आदि की प्रवृत्तियाँ त्याज्य हैं, क्योंकि उनसे कर्म बंध होता है। किन्तु उनका यह कथन एकान्ततः उचित नहीं है, क्योंकि दया, दान, करुणा, मैत्री आदि सत्प्रवृत्तियाँ करने पर क्रूरता, हिंसा, वैर, ईर्ष्या आदि असत् प्रवृत्तियों का निरोध होता है। असत्

- **जैन धर्म के सम्बन्ध में प्राय: यह धारणा है कि यह निवृत्तिवादी धर्म है, इसमें प्रवृत्ति का विधान नहीं है।**
- **दया, दान, करुणा, मैत्री आदि सत्प्रवृत्तियाँ करने पर क्रूरता, हिंसा, वैर, ईर्ष्या आदि असत् प्रवृत्तियों का निरोध होता है।**
- **यदि प्रवृत्तिमात्र को त्याज्य समझा जाएगा तो साधना का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाएगा।**
- **सत्प्रवृत्ति से ही निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।**
- **सत्प्रवत्तियों से पुण्य का अर्जन होता है, जिससे मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति आदि साधना के आवश्यक साधन प्राप्त होते हैं।**

प्रवृत्तियों का निरोध होने से संवर होता है तथा साधना का मार्ग प्रशस्त होता है। यदि प्रवृत्तिमात्र को त्याज्य समझा जाएगा तो साधना का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाएगा। दूसरी बात यह भी है कि करुणा, दया, मैत्री, आत्मीयता आदि भावों की अभिवृद्धि होगी तो कषाय में मन्दता होगी, विकट परिस्थितियों में भी समता भाव में रहने की क्षमता बढ़ेगी, आभ्यन्तर एवं बाह्य तप में प्रगति होगी, जिसके फलस्वरूप पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा भी होगी। दान, दया आदि प्रवृत्तियों को शुभभावों के साथ करने का तीसरा परिणाम है- पुण्य कर्म की प्रकृतियों का आस्रव। इस प्रकार करुणा, दया, मैत्री, सहानुभूति, मार्दव आदि भावों एवं प्रवृत्तियों के तीन परिणाम हैं-

1. असत्प्रवृत्तियों के निरोधरूप संवर होता है
2. क्षमा, सहिष्णुता, समता आदि के साथ संघ-सेवा, वैयावृत्त्य, अभयदान, दया, मैत्री आदि का आराधन पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय(निर्जरा) में सहायक बनता है। इससे पूर्वबद्ध पापकर्मों का पुण्य प्रकृतियों में संक्रमण भी सम्भव है अथवा पापकर्मों की स्थिति और अनुभाग में कमी होना भी संभव है।
3. सत्प्रवृत्तियों से पुण्य का अर्जन भी होता है, जिससे मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति आदि साधना के आवश्यक साधन प्राप्त होते हैं।

जैन धर्म में ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-भाण्डमात्र निक्षेपणा और उत्सर्ग समिति का विधान यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने के लिए किया गया है। साधक यतनापूर्वक चले, खड़ा रहे, बैठे, शयन करे, यतनापूर्वक ही वह भोजन करे, यतनापूर्वक ही बोले। यतनापूर्वक प्रवृत्ति करता हुआ साधक कर्मबंधन नहीं करता है-

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भांसतो, पावकम्मं न बंधइ।।

पं. सुखलाल जी संघवी ने 'दर्शन और चिन्तन' पुस्तक में इस बात पर बल दिया है कि दान, दया आदि सत्प्रवृत्तियाँ तो हिंसा, क्रूरता आदि असत्प्रवृत्तियों को रोकने का उपाय है। सत्प्रवृत्ति से ही निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाय तो जीवन में जो व्यक्ति दोषयुक्त प्रवृत्ति को दूर करना चाहते हैं, उन्हें सत्प्रवृत्ति करने का परामर्श दिया जाता है। बुराई को अच्छाई से जीता जाता है। आगम भी कहता है कि उपशम से क्रोध को, मार्दव से अहंकार को, सरलता से माया को और संतोष से लोभ को जीता जा सकता है-

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण, लोहं संतोसओ जिणे।।

हिंसक व्यक्ति को मैत्री के व्यवहार से बदला जा सकता है। अनुदार व्यक्ति को उदारता के व्यवहार से बदला जा सकता है। बुरे व्यक्ति के साथ अच्छा व्यवहार करके उसे अच्छाई की ओर प्रेरित किया जा सकता है। इसी प्रकार व्यक्ति अपनी असत्प्रवृत्तियों को सत्प्रवृत्तियों के आचरण के द्वारा दूर कर सकता है। व्यक्ति के आन्तरिक परिवर्तन में सकारात्मक भावों एवं सत्प्रवृत्तियों की भूमिका असंदिग्ध है।

जैन दर्शन में महत्त्व राग-द्वेष के त्याग का है। राग-द्वेष पूर्वक की गई प्रवृत्ति कर्म-बंध का कारण बनती है। निवृत्ति का पाठ राग-द्वेष से रहित होने के लिए सिखाया जाता है, प्रवृत्तिमात्र के त्याग के लिए नहीं। वे सभी प्रवृत्तियाँ उपादेय हैं जो राग-द्वेष में कमी लाती हैं तथा मानव का आध्यात्मिक विकास करती हैं, यथा-संतों का सान्निध्य,उनसे चर्चा, स्वाध्याय, सामायिक, तप आदि।

प्रवृत्ति और निवृत्ति दो विरोधी शब्द हैं, किन्तु इनमें कथंचित् परस्पर पूरकता और समन्वय भी पाया जाता है। विशेषत: सत्प्रवृत्ति के साथ असत् की निवृत्ति जुड़ी हुई है। दया, मैत्री, करुणा आदि के भावों से हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या आदि भाव स्वत: निर्बल पड़ते हैं। जैन धर्म में जहाँ भी सीमा बांधी गयी है वहाँ पाप के त्याग को लक्ष्य में रखकर ही बांधी गयी है। पुण्य प्रवृत्तियों के त्याग का विधान कहीं भी नहीं किया गया है। यह अवश्य है कि साधु-साध्वियों के लिए प्रवृत्ति का क्षेत्र सीमित है और श्रावक-श्राविकाओं के लिए व्यापक। श्रावक-श्राविका यदि सत्प्रवृत्तियों में वृद्धि एवं असत् प्रवृत्तियों में कमी लाते रहे तो साधना का मार्ग स्वत: प्रकाशित और प्रशस्त होता रहता है।

आज श्रावक समुदाय यदि अपने तक सीमित रहा तथा देश और समाज के भाई-बन्धुओं की व्यथा से अपरिचित या परिचित रहकर उनकी उपेक्षा करता रहा तो

- **जैन धर्म में ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-भाण्डमात्र निक्षेपणा और उत्सर्ग समिति का विधान यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने के लिए किया गया है।**
- **निवृत्ति का पाठ राग-द्वेष से रहित होने के लिए सिखाया जाता है, प्रवृत्तिमात्र के त्याग के लिए नहीं। वे सभी प्रवृत्तियाँ उपादेय हैं जो राग-द्वेष में कमी लाती हैं तथा मानव का आध्यात्मिक विकास करती हैं।**
- **प्रवृत्ति और निवृत्ति दो विरोधी शब्द हैं, किन्तु इनमें कथंचित् परस्पर पूरकता और समन्वय भी पाया जाता है।**
- **जैन धर्म एकान्त निवृत्तिवादी नहीं है, उसमें यतनापूर्वक प्रवृत्ति का भी विधान है।**

इसे देश और समाज के लिए हितकारी नहीं कहा जा सकता। सबके प्रति मैत्री और बन्धुत्व का भाव एक गृहस्थ आत्म–साधक में होना ही चाहिए तथा अपने साधनों के अनुसार उसकी क्रियान्विति भी होनी चाहिए। व्यक्ति अपने लिए तो पापकारी प्रवृत्तियों में लिप्त रहे तथा देश और समाज का हित करने वाली प्रवृत्तियों को दोषपूर्ण समझ कर टालता रहे तो यह उसकी स्वार्थपरता, निर्दयता और अविवेकशीलता को ही पुष्ट करता है।

जैन आगमों में अतिथि संविभाग, मैत्री भाव, समिति, वैयावृत्त्य, मार्दव आदि सत्प्रवृत्तियों के माध्यम से यही संदेश प्राप्त होता है कि भावात्मक स्तर पर पाप के बंधन से बचते हुए यतनापूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए। यदि प्रवृत्तिमात्र का निषेध किया जाय तो मानव (जीव) अकर्मण्य एवं प्रमादी हो जाएगा तथा सन्मार्ग पर आगे बढ़ने से रुक जाएगा। इससे यह भलीभांति स्पष्ट होता है कि जैनधर्म एकान्त निवृत्तिवादी नहीं है, उसमें यतनापूर्वक प्रवृत्ति का भी विधान है। **(जनवरी, 2004)**

सावद्य-निरवद्य प्रवृत्ति

'अवद्य' का अर्थ है दोष, पाप, अपराध, निन्दनीय आदि। जैन दर्शन में 'सावद्य' (स+अवद्य) और 'निरवद्य' (निर्+अवद्य) शब्दों का प्रयोग भूरिश: देखने को मिलता है। जो प्रवृत्ति या योग अवद्य (दोष, पाप) सहित है उसे 'सावद्य' तथा जो उससे रहित है उसे 'निरवद्य' कहते हैं। सामान्यत: सावद्य प्रवृत्ति त्याज्य एवं निरवद्य प्रवृत्ति उपादेय होती है। प्रवृत्ति मन, वचन एवं काया के माध्यम से होती है, जिसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में योग भी कहा जाता है।

जैनाचार में श्रमण-श्रमणी 'सावद्यप्रवृत्ति' के पूर्ण त्याग का संकल्प करते हुए जीवनभर की सामायिक अंगीकार करते हैं जिसमें सावद्ययोग का पूर्ण त्याग होता है। श्रावक-श्राविका भी जब सामायिक करते हैं तो दो करण तीन योग से सावद्य योग का प्रत्याख्यान (त्याग) करते हैं। सावद्य प्रवृत्ति के त्याग में 18 प्रकार के पापों का त्याग समाहित है। 18 प्रकार के पाप हैं- प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति-अरति, माया-मृषावाद और मिथ्यादर्शन शल्य। ये अठारह प्रकार के पाप मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं।

- **जो प्रवृत्ति या योग अवद्य (दोष, पाप) सहित है उसे 'सावद्य' तथा जो उससे रहित है उसे 'निरवद्य' कहते हैं। सामान्यत: सावद्य प्रवृत्ति त्याज्य एवं निरवद्य प्रवृत्ति उपादेय होती है।**
- **सावद्य प्रवृत्ति के त्याग में 18 प्रकार के पापों का त्याग समाहित है।**
- **वर्तमान में सावद्य एवं निरवद्य प्रवृत्ति का चक्र हिंसा-अहिंसा की बाह्य परिधि पर ही घूम रहा है।**
- **श्रमण-श्रमणी अपने रागादि विकारों को जीतने के प्रति उतने सजग नहीं लगते हैं, जितने बाह्य हिंसा-अहिंसा के विवेक में शास्त्रार्थ करते हुए।**

विचार करने पर ज्ञात होता है कि सावद्यप्रवृत्ति की पूर्ण निवृत्ति तो 11वें 12वें गुणस्थान में संभव होती है, उसके पूर्व की गई प्रवृत्ति किसी न किसी अंश में सावद्य होती ही है। फिर साधु-साध्वी में सावद्य प्रवृत्ति का त्याग किस अपेक्षा से कहा गया है? इस संदर्भ में ध्यातव्य है कि साधु-साध्वी द्वारा जानते हुए सावद्य प्रवृत्ति का त्याग किया जाता है। वे सजगतापूर्वक सावद्य प्रवृत्ति के आचरण से दूर रहने का प्रयास करते हैं। एक प्रकार से यह साधना की सजगता है, संवर की साधना है। जो क्रोधादि कषाय पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप उदय में आने वाले हैं, वे तो अपने समय पर उदय में आयेंगे ही, किन्तु सावद्य प्रवृत्ति का त्यागी उन क्रोधादि कषायों की वृद्धि में ईंधन का कार्य नहीं करता, अपितु उन्हें अहिंसा, समता, तप एवं संयम की साधना से शान्त करने का पुरुषार्थ करता है। वह नवीन कर्मों के बंधन को प्रोत्साहित नहीं करता, इसलिए उसके 'संवर' की साधना सहज ही घटित होती है। तप-साधना द्वारा पूर्वकृत कर्म भी उदीर्ण एवं वेदित होकर निर्जरित हो जाते हैं।

श्रमण-श्रमणी अप्रमत्त अवस्था में रहकर संवर एवं निर्जरा की साधना तीव्रता से कर सकते हैं। गुणस्थान आरोहण की दृष्टि से यह नियम है कि जब कोई श्रमण दीक्षा अंगीकार करता है तो वह चतुर्थ या पंचम गुणस्थान से सीधे सातवें (अप्रमत्तसंयत) गुणस्थान में प्रवेश करता है। सातवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं रहा जाता, अतः साधक पुनः छठे (प्रमत्तसंयत) गुणस्थान में आ जाता है। प्रमत्त अवस्था में रहते हुए सावद्य प्रवृत्ति से

- **जो क्रोधादि कषाय पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप उदय में आने वाले हैं, वे तो अपने समय पर उदय में आयेंगे ही, किन्तु सावद्य प्रवृत्ति का त्यागी उन क्रोधादि कषायों की वृद्धि में ईंधन का कार्य नहीं करता, अपितु उन्हें अहिंसा, समता, तप एवं संयम की साधना से शान्त करने का पुरुषार्थ करता है।**
- **साधु जहाँ पंच महाव्रतों का पालक होने से षड्जीवनिकाय के प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन एवं परिग्रह रूप पाप प्रवृत्ति का त्यागी होता है वहाँ श्रावक इससे आंशिक रूप में विरत होता है, इसीलिए उसे अणुव्रती कहते हैं और साधु-साध्वी को महाव्रती।**
- **श्रमण-श्रमणी अप्रमत्त अवस्था में रहकर संवर एवं निर्जरा की साधना तीव्रता से कर सकते हैं।**
- **गृहस्थ जीवन में पूर्णतः सावद्य प्रवृत्ति का त्याग नहीं होता, तथापि प्रयत्न किया जाता है कि उसमें अधिकाधिक कमी हो।**

पूर्णत: विरत रहना संभव नहीं है। तब संवर की साधना चलती अवश्य है, किन्तु अप्रमत्त संयत गुणस्थान की अपेक्षा अत्यल्प। श्रावक भी जब सामायिक में सावद्यप्रवृत्ति का त्याग करता है तो वह भी संवर की साधना में होता है। वह अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में तो नहीं होता, किन्तु कुछ अंशों में अप्रमत्त बनने का अभ्यास अवश्य करता है। साधु जहाँ पंच महाव्रतों का पालक होने से षड्जीवनिकाय के प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन एवं परिग्रह रूप पाप प्रवृत्ति का त्यागी होता है वहाँ श्रावक इससे आंशिक रूप में विरत होता है, इसीलिए उसे अणुव्रती कहते हैं और साधु-साध्वी को महाव्रती।

साधु-साध्वी की जो आचार संहिता है, उसके अनुसार सावद्यप्रवृत्ति से बचकर निरवद्य प्रवृत्ति करने का ही विधान है, जैसाकि कहा भी है- "**असंजमे नियट्टिं च संजमे य पवत्तणं।।**"

साधक असंयम से निवृत्ति करे एवं संयम में प्रवृत्ति करे।

यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि वर्तमान में सावद्य एवं निरवद्य प्रवृत्ति का चक्र हिंसा-अहिंसा की बाह्य परिधि पर ही घूम रहा है। क्रोधादि कषायों, रागादि दोषों, कलह-अभ्याख्यान, परपरिवादादि वचनदोषों का विस्मरण सा हो रहा है। साध्वाचार के पालक श्रमण-श्रमणी रागादि, कलह-अभ्याख्यान या क्रोध-मानादि दोषों के प्रति कितने सजग हैं, यह उन्हीं के विचार का विषय है। क्या रागादि, अहंकारादि की प्रवृत्ति सावद्य नहीं है? वे अपने रागादि विकारों को जीतने के प्रति उतने सजग नहीं लगते हैं, जितने बाह्य हिंसा-अहिंसा के विवेक में शास्त्रार्थ करते हुए। हिंसा-अहिंसा का विवेक तो रहे ही, किन्तु उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है प्रमत्तता एवं मूर्च्छा पर विजय। आचारांग सूत्र में पदे-पदे मूर्च्छा पर विजय प्राप्त करने का संदेश है-

- **गोरक्षा हेतु गोशाला का संचालन, चिकित्सा हेतु अस्पताल, प्यासे के लिए प्याऊ, भूखे के लिए भोजनशाला आदि प्रवृत्तियों को शुभ भावना से जीव-हितार्थ किया जाए तो उनकी अपनी महत्ता है।**
- **मैत्री, अनुकम्पा आदि की दृढ़ता एवं पुष्टि के लिए उनका क्रियात्मक रूप भी आवश्यक है। इसीलिए अतिथिसंविभाग-व्रत, अभयदान, औषधदान, ज्ञानदान आदि का विधान है तथा दया, दान आदि को धर्म कहा गया है।**

"मुणिणो सया जागरंति।।"-आचारांग 1.3.1

मुनि सदैव जागृत रहते हैं।

सच्चंसि धितिं कुव्वह।।-आचारांग 1.3.2

सत्य में बुद्धि करो।

पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि।।

-आचारांग 1.3.3

हे पुरुषों! अपने को ही निगृहीत करो। इसीसे दुःख से मुक्त हो सकोगे।

गृहस्थ जीवन में पूर्णतः सावद्य प्रवृत्ति का त्याग नहीं होता, तथापि प्रयत्न किया जाता है कि उसमें अधिकाधिक कमी हो। श्रावक के लिए 'अल्पारम्भी' एवं 'अल्पपरिग्रही' होने का सूत्र दिया जाता है। किन्तु श्रावक भी महारम्भी और महापरिग्रही बनने के प्रति रुचिशील दिखाई पड़ते हैं।

गृहस्थ जीवन में यह प्रश्न सदैव खड़ा होता है कि कौनसी प्रवृत्ति की जाए और कौनसी नहीं? प्रवृत्ति करने न करने का मापदण्ड क्या हो? यह तो निश्चित है कि जब सावद्य एवं निरवद्य प्रवृत्ति में से चुनाव करना हो तो निरवद्य प्रवृत्ति का चुनाव करना ही श्रेयस्कर होगा, किन्तु जब दो सावद्य प्रवृत्तियों में से एक का चुनाव करना हो तो किसका चुनाव उचित होगा? इसी प्रकार एक सावद्य प्रवृत्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए की जाती है तथा दूसरी परार्थ से जुड़ी होती है, तो इनमें से कौनसी प्रवृत्ति करणीय है। यहाँ पर श्रावक को विवेक का प्रयोग करके तदनुसार प्रवृत्ति का निर्धारण करना चाहिए।

दो सावद्य प्रवृत्तियों में से एक का चुनाव करना हो तो अल्प सावद्य प्रवृत्ति का चुनाव ही उचित कहा जा सकता है। स्वार्थ एवं परार्थ को दृष्टिगत रखकर जो सावद्यप्रवृत्ति होती है, उसमें स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ को महत्त्व देना चाहिए। कभी-कभी सावद्य एवं निरवद्य की मिश्रित स्थिति भी बनती है। ऐसी स्थिति में श्रावक-श्राविका के द्वारा पूछने पर साधु-साध्वी उस प्रवृत्ति के करने, नहीं करने के संबंध में कुछ नहीं कहते, किन्तु श्रावक-श्राविका स्वयं अपने विवेक से महान् हित को देखकर निर्णय कर सकते हैं। उदाहरणार्थ गोरक्षा हेतु गोशाला का संचालन, चिकित्सा हेतु अस्पताल, प्यासे के लिए प्याऊ, भूखे के लिए भोजनशाला आदि प्रवृत्तियों को शुभ भावना से जीव-हितार्थ किया जाए तो उनकी अपनी महत्ता है। किन्तु कुछ विचारक इन प्रवृत्तियों को सावद्य कहकर इनका निषेध कर देते हैं, तथा इन्हें न करते हुए अपने राग-द्वेष, अभिमान एवं विषयसुखों की पूर्ति में संलग्न रहते हैं। दान, दया के निषेध की

विचारणा से मानव–हृदय की करुणा ही समाप्त होने लगती है। इसलिए प्रवृत्ति करते समय भावों की शुभता का विशेष महत्त्व है। हित–अहित का विचार भी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। प्रवृत्ति की निर्णायकता में भीतर का राग–द्वेष ही प्रमुख होता है। प्रवचनसार में कहा गया है–

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसामेत्तेण समिदस्स।।

-प्रवचनसार 3.17

बाहर में प्राणी मरे या जीए, असंयताचारी प्रमत्त को हिंसा का दोष निश्चित रूप से लगता है, परन्तु जो अहिंसा की साधना के लिए प्रयत्नशील है, समितिवान या संयताचारी है, उसको बाहर से होने वाली हिंसा के कारण कर्मबंध नहीं होता।

विशेषावश्यक भाष्य में भी कहा गया है–

असुभपरिणामहेऊ जीवाबाहो त्ति तो मयं हिंसा।
जस्स उ न सो निमित्तं संतो वि न तस्स सा हिंसा।।

-विशेषावश्यक भाष्य, 767

अशुभ परिणाम के कारण जो जीव का घात होता है वह हिंसा है, जिसमें अशुभ परिणाम निमित्त नहीं होता उसमें जीवघात होते हुए भी हिंसा नहीं है। अर्थात् वह हिंसा कर्मबंध का कारण नहीं बनती है। ओघनिर्युक्ति में भी इसी प्रकार का तथ्य प्रकट हुआ है। **(गाथा 748-758)**

यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि दया, दान, सेवा आदि की प्रवृत्तियाँ कभी सावद्य होती हैं और कभी निरवद्य। निरवद्य होने पर तो उनके आचरण में कोई बाधा नहीं है, किन्तु जब वे सावद्य होती हैं तो प्रश्न होता है कि उनका आचरण किया जाए या नहीं? इसके समाधान में आगमिक आधार से कहना होगा कि प्राणिरक्षा, दया, दान, सेवा आदि कार्य यदि करुणा, मैत्री, अनुकम्पा आदि भावों से किए जाते हैं तो बाहर से भले ही सावद्य प्रतीत होते हों, भीतर से रागादि में कमी लाने के कारण वे पाप कर्म–बन्ध के कारण नहीं बनते हैं।

दया, दान, सेवा आदि की शुभ प्रवृत्ति को सावद्य समझकर कोई उसका आचरण नहीं करता है तथा उसके स्थान पर रागादि से युक्त होकर अधिक सावद्यकारी प्रवृत्ति करता है तो यह सोच मिथ्या है। क्योंकि जैनदर्शन में आत्मीयभाव, मैत्रीभाव, करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य आदि को उपादेय माना गया है, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र में उनका स्थान है। इसलिए इनकी उपादेयता असंदिग्ध है। इनका

सम्यक् आचरण राग-द्वेष में कमी ही लाता है। यदि इनसे राग, अभिमान आदि में वृद्धि होती है तो वह दया, दान आदि का दूषित रूप है, जिसके दोष का परिहार आवश्यक है।

आज जैनधर्म के कतिपय सम्प्रदाय दान, दया, सेवा आदि की प्रवृत्तियों को रागादि से युक्त बताकर अथवा सावद्य बताकर त्याज्य/उपेक्षणीय प्रतिपादित करते हैं, जिसे कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। करुणा, दया, अनुकम्पा के अभाव में तो मानव में मानवता ही समाप्त हो जाएगी तथा निर्दयता, निष्ठुरता, निष्करुणता आदि दुर्गुणों या दुर्भावों को ही प्रोत्साहन मिलेगा, जिसे किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। महत्त्व भावों का है, मैत्री, अनुकम्पा आदि की दृढ़ता एवं पुष्टि के लिए उनका क्रियात्मक रूप भी आवश्यक है। इसीलिए अतिथिसंविभागव्रत, अभयदान, औषधदान, ज्ञानदान आदि का विधान है तथा दया, दान आदि को धर्म कहा गया है।

(अप्रेल, 2004)

सामायिक

'सामायिक' जैन धर्म का विशेष शब्द है, जो समभाव का द्योतक है। मनुष्य का जीवन विषमभावों से आक्रान्त है, उसमें राग-द्वेष अथवा क्रोध-मान-माया एवं लोभ के भाव हिलोरें लेते रहते हैं। ये विषम भाव उसे मलिन बनाते हैं। सामायिक इन भावों को दूर कर व्यक्ति में शान्ति एवं आनन्द का आस्वादन कराती है।

सामायिक व्रत भी है, चारित्र भी है और आवश्यक भी है। साधु-साध्वी के द्वारा इसे चारित्र के रूप में अंगीकार किया जाता है, श्रावक इसे शिक्षाव्रत या षडावश्यकों में प्रथम आवश्यक के रूप में स्वीकार करते हैं।

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर साहित्य में प्राप्त लक्षणों के अनुसार सामायिक में अग्राङ्कित विशेषताएँ समाविष्ट हैं- 1. समता, 2. राग-द्वेष का त्याग, 3. आत्म-स्थिरता, 4. सावद्य योग निवृत्ति, 5. आर्त्त एवं रौद्र ध्यान का त्याग, 6. समस्त जीवों के प्रति समत्व भाव।

सामायिक चेतना के विकास का उदात्त रूप है। आत्म-हित के प्रति सजग प्राणी ही सामायिक के प्रति सजग रहते हैं।

जैन श्रमण-श्रमणी तो 'सामायिक' को जीवनभर के लिए अंगीकार करते हैं, किन्तु गृहस्थ ऐसा नहीं कर सकता। इसलिए

- **'सामायिक' जैन धर्म का विशेष शब्द है, जो समभाव का द्योतक है।**
- **मनुष्य का जीवन विषमभावों से आक्रान्त है। सामायिक इन विषम भावों को दूर कर व्यक्ति में शान्ति एवं आनन्द का आस्वादन कराती है।**
- **सामायिक चेतना के विकास का उदात्त रूप है।**
- **सामायिक में सावद्य-प्रवृत्ति का त्याग ही नहीं होता, अपितु समभावपूर्वक जीने का अभ्यास भी बढ़ता है। इसलिए यह साधु-साध्वी की भांति गृहस्थों के लिए भी समान रूप से उपयोगी है।**
- **समता के कारण ही साधु को श्रमण कहा गया है- समयाए समणो होइ।**

- **लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान की स्थितियों में जो सम रहता है वह श्रमण है।**
- **गृहस्थ के जीवन में आकुलता-व्याकुलता के अवसर सदा बने रहते हैं। उन पर नियन्त्रण करने के लिए सामायिक उपयोगी अभ्यास है।**
- **जिस प्रकार तन का मैल साफ करने के लिए नित्यप्रति स्नान किया जाता है, उसी प्रकार मन का मैल दूर करने के लिए सामायिक उपयोगी है।**
- **सामायिक खानापूर्ति या गणना मात्र के लिए न हो, समभावों की वास्तविक उपलब्धि के लिए हो। इसके लिए सामायिक में स्वाध्याय एवं ध्यान भी आवश्यक हैं। चित्त की एकाग्रता एवं निर्मलता में अभिवृद्धि होती है, जिससे सामायिक का उद्देश्य पूर्ण होता है।**
- **गृहस्थ व्यक्ति समभाव की साधना करते हुए समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभाव स्थापित करता है। उसकी किसी के प्रति द्वेष भावना नहीं होती। वह राग-द्वेष के भावों में निरन्तर कटौती करता हुआ सबका मंगल चाहता है।**

उसके लिए सामायिक को शिक्षाव्रत में स्थान दिया गया है। साधु-साध्वी द्वारा सामायिक में पाप कार्यों (सावद्य कर्मों) का तीन करण एवं तीन योग से जीवन भर के लिए त्याग किया जाता है। अर्थात् वे मन, वचन एवं काया तीनों के द्वारा पापकार्य से स्वयं तो निवृत्त होते ही हैं, साथ ही दूसरे को कहकर भी वे सावद्य कार्य नहीं कराते तथा सावद्य कार्य करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करते। इसलिए साधु-साध्वी की सामायिक पाप-निवृत्ति की दृष्टि से आदर्श है। इस सामायिक को चारित्र भी कहा जाता है। इस चारित्र में पंच महाव्रतों का पालन, पाँच समिति एवं तीन गुप्तियों का आराधन स्वतः सम्पन्न होता है। किन्तु जो साधु-साध्वी सावद्य कार्यों से पूर्णतः विरत नहीं हो पाते हैं, वे पाँच समिति, तीन गुप्तियों एवं पंच महाव्रतों का पालन भी सम्यक् रूपेण नहीं कर पाते हैं।

साधु-साध्वी के जो सामायिक होती है, उसमें वे पूर्णतः समभाव के साधक होते हैं। जैसा कि उत्तराध्ययन में कहा गया है-

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ।।

-उत्तराध्ययन सूत्र 19.91

लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान की स्थितियों में जो सम रहता है वह श्रमण है। अमितगति श्रावकाचार ग्रन्थ में जीवन-

मरण, संयोग-वियोग, प्रिय-अप्रिय, शत्रु-मित्र और सुख-दुःख में समभाव रखने को सामायिक कहा गया है। (अमितगति श्रावकाचार 8.31)

सामायिक मोक्ष में जाने का द्वार है। कहा गया है-

जे केवि गया मोक्खं, जे वि य गच्छंति जे गमिस्संति।
ते सव्वे सामाइयपभावेण, मुणेयव्वं।।

अर्थात् जो कोई भी भूतकाल में मोक्ष में गए हैं, वर्तमान काल में जा रहे हैं और भविष्य में जायेंगे, उसमें सामायिक के प्रभाव को ही कारण समझना चाहिए। क्योंकि सामायिक एक चारित्र है। यदि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक सामायिक चारित्र का आराधन किया गया है तो वह मोक्ष का साधन बनता है। सामायिक में समताभाव का महत्त्व है। समता के कारण ही साधु को श्रमण कहा गया है- समयाए समणो होइ। (उत्तराध्ययनसूत्र)

आचार्य हरिभद्रसूरि ने अष्टक प्रकरण में कहा है-

सामायिकविशुद्धात्मा सर्वथा घातिकर्मणः।
क्षयात्केवलमाप्नोति, लोकालोकप्रकाशकम्।।

अर्थात् सामायिक से विशुद्ध हुआ आत्मा ज्ञानावरण आदि घातिकर्मों का पूर्णरूप से नाश कर लोक एवं अलोक के प्रकाशक केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

श्रावक जब सामायिक करता है तब वह श्रमण जैसा हो जाता है, इसलिए सामायिक का अभ्यास बार-बार करना चाहिए-

सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा।।

-आवश्यकनिर्युक्ति

श्रावक जब तक सामायिक व्रत में होता है तब तक वह अशुभ कर्मों का क्षय करता है- **सामाइयवयजुत्तो, जावमणो होइ नियमसंजुतो छिन्नइ असुहं कम्मं।।**

यह सही है कि गृहस्थ जीवन में पूर्णतः सावद्य-निवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए वह जीवन में सावद्य कर्मों से जितना निवृत्त हो सके, उतना अभ्यास करता है। 'सामायिक' श्रावक या श्राविका को मन, वचन एवं काय योग की प्रवृत्तियों में विशुद्धि लाने के लिए प्रशिक्षित करती है, इसलिए यह एक शिक्षाव्रत है। 'सामायिक' का गृहस्थ के लिए न्यूनतम काल एक मुहूर्त्त निर्धारित किया गया है, जिसमें वह दो करण (करना और कराना) और तीन योग, (मन, वचन और काया) से सावद्य-प्रवृत्ति का

त्याग करता है। अनुमोदन का उसके त्याग नहीं रहता, किन्तु वह अनुमोदन भी न करे तो सावद्य-प्रवृत्ति का त्याग और अधिक हो सकता है।

सामायिक में सावद्य-प्रवृत्ति का त्याग ही नहीं होता, अपितु समभावपूर्वक जीने का अभ्यास भी बढ़ता है। इसलिए यह साधु-साध्वी की भांति गृहस्थों के लिए भी समान रूप से उपयोगी है। गृहस्थ के जीवन में आकुलता-व्याकुलता के अवसर सदा बने रहते हैं। उन पर नियन्त्रण करने के लिए सामायिक उपयोगी अभ्यास है।

गृहस्थ व्यक्ति समभाव की साधना करते हुए समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव स्थापित करता है। उसकी किसी के प्रति द्वेष भावना नहीं होती। वह राग-द्वेष के भावों में निरन्तर कटौती करता हुआ सबका मंगल चाहता है।

सामायिक क्यों की जाए, इसके अनेक व्यावहारिक कारण आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा. ने अपने भजनों या पदों में गूँथे हैं, यथा-

जीवन उन्नत करना चाहो, तो सामायिक साधन कर लो।
आकुलता से बचना चाहो, तो सामायिक साधन कर लो।।

इस भजन में उन्होंने जीवन की वास्तविक उन्नति के लिए सामायिक को उपाय बताया है। इसी प्रकार आकुलता से बचने के लिए, अविनाशी सद्गुण की प्राप्ति के लिए, सद् चिद् आनन्द की उपलब्धि के लिए, समता के सरोवर में स्नान के लिए, आध्यात्मिक बल की प्राप्ति के लिए, सब जीवों से मैत्री के लिए, नृलोक में सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिए उन्होंने सामायिक करने का संदेश दिया है। उनके अनुसार जीवन का वास्तविक विकास आत्म-गुणों के विकास में है, सुख-शान्ति एवं मैत्री की अभिवृद्धि में है। राग-द्वेष का बढ़ना जीवन का विकास नहीं ह्रास है। इसीलिए उन्होंने अन्य शब्दों में कहा- 'करने जीवन का उत्थान, करो नित समता रस का पान।'

वे जीवन-निर्माण में सामायिक और स्वाध्याय को महत्त्वपूर्ण मानते थे। इसीलिए उन्होंने कहा-

अगर जीवन बनाना है, तो सामायिक तू करता जा।
हटाकर विषमता मन की, साम्यरस पान करता जा।।
मिले धन सम्पदा अथवा, कभी विपदा भी आ जावे।
हर्ष और शोक से बचकर, सदा एक रंग रखता जा।।

विकारों पर विजय प्राप्त करने, मनोबल को बढ़ाने, अठारह पापों को त्यागने, ज्ञान में मन रमाने आदि में भी उन्होंने सामायिक की उपयोगिता प्रतिपादित

की। सामायिक में स्वाध्याय करने से ज्ञान की ज्योति प्रकाशित होती है तथा अमित आनन्द की प्राप्ति होती है।

आचार्य श्री ने कहा कि जिस प्रकार तन का मैल साफ करने के लिए नित्यप्रति स्नान किया जाता है, उसी प्रकार मन का मैल दूर करने के लिए सामायिक उपयोगी है। शरीर की पुष्टि के लिए जिस प्रकार व्यायाम किया जाता है उसी प्रकार मन की पुष्टि के लिए सामायिक उपयोगी है।

कतिपय लोग यह कहते हैं कि जीवन में समभाव होना चाहिए, एक मुहूर्त्त की सामायिक करने से क्या होता है? किन्तु ऐसे लोगों का तर्क उचित नहीं है, क्योंकि जीवन में समभाव लाने के लिए अभ्यास एवं स्मरण की आवश्यकता है। उसकी पूर्ति कुछ काल के लिए की गई सामायिक से होती है। जो थोड़ी देर की सामायिक में समता का अभ्यास करने से कतराते रहते हैं, वे सम्पूर्ण जीवन में समता का आचरण कर लेंगे, यह सम्भव नहीं। नकारात्मक विचारों वाले मनुष्य सत्प्रवृत्तियों को टालने के लिए ऐसे तर्क देते रहते हैं। किन्तु जब सद्गुणों की प्राप्ति का मार्ग ही नकार दिया जायेगा तो उनकी प्राप्ति की सम्भावना भी स्वतः ही क्षीण हो जायेगी।

इसलिए श्रावक को नियमित रूप से सामायिक करनी चाहिए। सामायिक खानापूर्ति या गणना मात्र के लिए न हो, समभावों की वास्तविक उपलब्धि के लिए हो। इसके लिए सामायिक में स्वाध्याय एवं ध्यान भी आवश्यक हैं। इनसे चित्त की एकाग्रता एवं निर्मलता में अभिवृद्धि होती है, जिससे सामायिक का उद्देश्य पूर्ण होता है। सामायिक भले ही हम एक ही करें, किन्तु उसका प्रभाव हमारे सम्पूर्ण जीवन पर हो। एक सामायिक का प्रभाव दिन भर के जीवन में बोले, तो वह एक नियमित सामायिक भी पूणिया श्रावक की भांति सार्थक सिद्ध हो सकती है।

(दिसम्बर, 1998)

सेवा और सामायिक में भिन्नता

यह प्रश्न अनेक बार उठता है कि सेवा मुख्य है या सामायिक? समाज के कुछ लोग सामायिक को मुख्यता प्रदान करते हैं तो कुछ सेवा को। यही नहीं, कभी-कभी सामायिक के आराधक सेवाकार्य को आत्म-साधना की दृष्टि से अनुपयोगी बतलाते हैं। उनका कहना है कि सेवा व्यक्ति को बहिर्मुखी बनाती है, जबकि सामायिक अन्तर्मुखी बनाकर कषायों को दूर करने में उपयोगी बनती है। सेवाप्रेमी कहते हैं कि सामायिक में एक घण्टे बैठने की अपेक्षा दीन-दुःखियों, पीड़ितों एवं असहायों के दुःख का निवारण करना मानवता एवं प्राणिसेवा की दृष्टि से अधिक उपयोगी है। दोनों पक्षों के अपने तर्क हैं, अपना चिन्तन है।

- सामायिक का समावेश जहाँ संवर-साधना में होता है, वहाँ सेवा (वैयावृत्त्य) का समावेश निर्जरा-साधना में होता है।
- सामायिक में सावद्य प्रवृत्तियों से बचकर विषम परिस्थितियों में भी समभाव में रहने का अभ्यास किया जाता है।
- सामायिक आराधक आत्मजेता बनने के साथ प्राणिमात्र का रक्षक होता है।
- सामायिक राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि पापों पर विजय की साधना है, अतः उसमें समत्व, मैत्री, अहिंसा, उपकार आदि गुण स्वतः प्रकट होने चाहिए। इस प्रकार सामायिक का साधक भी कथञ्चित् अपनी साधना के साथ सेवाभाव से जुड़ जाता है।

जैन धर्म-दर्शन की दृष्टि से विचार करें तो दोनों कार्यों की अपनी उपयोगिता है। दोनों का महत्त्व है। इस पर अनेकान्त दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है। सामायिक और सेवा दोनों साधनाएँ हैं। सामायिक का समावेश जहाँ संवर-साधना में होता है, वहाँ सेवा(वैयावृत्त्य) का समावेश निर्जरा-साधना में होता है। किसी अपेक्षा से सामायिक में निर्जरा और सेवा में संवर भी समाहित है, किन्तु प्रधानता से सामायिक को संवर में एवं सेवा को निर्जरा में वर्गीकृत किया जाता है।

सामायिक समभाव की साधना है। इसमें सावद्य प्रवृत्तियों से बचकर विषम परिस्थितियों में भी समभाव में रहने का अभ्यास किया जाता है। सामायिक साधक के मन को निर्मल एवं बलशाली बनाती है। सामायिक आराधक आत्मजेता बनने के साथ प्राणिमात्र का रक्षक होता है। 48 मिनट की अल्पावधि में स्वाध्याय, ध्यान आदि के साथ की गई सामायिक-साधना जीवन को सम्यक् दिशा की ओर गतिशील करती है। सामायिक का साधक दूसरे जीवों के प्रति भी करुणा, अहिंसा एवं मैत्री के भावों से भरा होता है। वह दूसरे के दुःखो को देखकर अनुकम्पित होता है। उन्हें दूर करने के लिए सन्नद्ध होता है। यदि सामायिक के साधक के मन में दूसरे प्राणियों के प्रति मैत्री एवं वात्सल्य का भाव जागृत नहीं होता है एवं वह दूसरों के साथ छल-कपट और वंचना का ही व्यवहार करता रहता है तो उसकी सामायिक-साधना सफलीभूत नहीं कहीं जा सकती। सामायिक की साधना करने वाले के जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में उसकी साधना बोलनी चाहिए। साधना का यह प्रभाव स्वतः स्फूर्त होता है, दिखावटी नहीं हुआ करता। कई साधक परिचितों के साथ दिखावटी मैत्री रखते हैं और भीतर से उन्हें काटते रहते हैं, यह सामायिक का वास्तविक प्रभाव नहीं है, दिखावटी रूप है। सामायिक जब राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि पापों पर विजय की साधना है तो उसमें समत्व, मैत्री,

- **सेवाकार्य में रुचि रखने वाला व्यक्ति भी आत्म-साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है।**
- **सेवा करते समय स्वयं के लिए प्रतिफल की अभिलाषा नहीं रखनी चाहिए। यदि प्रतिफल की अभिलाषा से सेवा की जाती है तो वह सौदा है, सेवा नहीं।**
- **सेवा करने वाले में सहिष्णुता, समता, करुणा, मैत्री आदि सद्गुणों का सहज विकास होता है।**
- **सेवा करने वाले के त्याग का मूल्य धन से नहीं आंका जा सकता।**
- **सेवा एवं सामायिक में क्या श्रेष्ठ है? इसके उत्तर में कहना होगा कि श्रेष्ठता व्यक्ति की पात्रता पर निर्भर करती है।**
- **सेवा एक तप है, अतः उसके सम्यक् आचरण से पूर्वोपार्जित पाप कर्मों की निर्जरा होती है।**
- **सेवा एवं सामायिक परस्पर विरोधी नहीं हैं, अपितु एक-दूसरे की पूरक हो सकती हैं।**
- **सामायिक एवं सेवा दोनों ही साधकों के द्वारा उपादेय हैं तथा दोनों में से किसी एक को पहले अपनाकर स्व-पर कल्याण के मार्ग पर बढ़ा जा सकता है।**

अहिंसा, उपकार आदि गुण स्वतः प्रकट होने चाहिए। इस प्रकार सामायिक का साधक भी कथञ्चित् अपनी साधना के साथ सेवाभाव से जुड़ जाता है।

दूसरी ओर सेवाकार्य में रुचि रखने वाला व्यक्ति भी आत्म-साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है। सेवा को जैन धर्म-दर्शन में वैयावृत्त्य कहा गया है। रोगी एवं अशक्त साधु की वैयावृत्त्य करते समय साधु स्वाध्याय को भी गौण कर देता है। संघनायक की आज्ञा यदि स्वाध्याय काल में भी वैयावृत्त्य करने की होती है तो साधु वैयावृत्त्य को ही प्राथमिकता देता है। आवश्यकसूत्र की हारिभद्रीया टीका के अनुसार गौतम गणधर की पृच्छा में भगवान ने अपने दर्शनों की अपेक्षा ग्लान की सेवा को अधिक महत्त्व दिया है, यथा-

किं भंते ! जो गिलाणं पडियरइ से धण्णे उदाहु जे तुमं दंसणेण पडिवज्जइ ?

गोयम ! जे गिलाणं पडियरइ।

भगवन्! जो ग्लान की सेवा करता है वह धन्य है अथवा जो आपके दर्शन करता है वह धन्य है ?

गौतम ! जो ग्लान की सेवा करता है वह धन्य है।

ग्लान से तात्पर्य है-रोगी, खिन्न एवं आर्त्त। साधु-साध्वियों के द्वारा वैयावृत्त्य किए जाने की मर्यादा है। वे पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति एवं साध्वाचार के नियमों की मर्यादा रखते हुए पंच महाव्रती एवं समलिंगी की ही सेवा करते हैं। श्रावक का क्षेत्र अधिक खुला एवं व्यापक है। सहयोग देना मात्र सेवा नहीं है। दूसरों के जीवन को बचाना, उन्हें सन्मार्ग पर लगाना, उनके दुर्व्यसन छुड़वाना, उनका अर्थ सहयोग करना भी सेवा है। सेवा करते समय स्वयं के लिए प्रतिफल की अभिलाषा नहीं रखनी चाहिए। यदि प्रतिफल की अभिलाषा से सेवा की जाती है तो वह सौदा है, सेवा नहीं। सेवा के विभिन्न आयाम हैं। जिसकी जैसी रुचि एवं योग्यता है वह उस प्रकार के सेवाकार्य में संलग्न हो सकता है।

सेवा करने वाले में सहिष्णुता, समता, करुणा, मैत्री आदि सद्गुणों का सहज विकास होता है। सहिष्णुता, निर्लोभता आदि भाव उसकी कर्म-निर्जरा में कारण बनते हैं। द्वादश प्रकार के तप में से सेवा(वैयावृत्त्य) की गणना आभ्यन्तर तप में की गई है। वैयावृत्त्य के संदर्भ में उत्तराध्ययन सूत्र (29.43) में कहा गया है कि वैयावृत्त्य से तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का उपार्जन होता है। आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा. ने सेवा में रुचि रखने वालों को निःस्वार्थ सेवा की प्रेरणा की है। सेवा भी मनुष्य के जीवन का एवं उसकी वृत्तियों का परिष्कार करती है। सेवा का रूप उदात्त

होना चाहिए। आज अर्थ सहयोगी को जो महत्त्व समाज में दिया जाता है वह सामान्य सेवाभावी कार्यकर्ता को नहीं, इसमें समाज की गुणों के परीक्षण एवं गुणिजनों के प्रति आदर की सूक्ष्म दृष्टि का अभाव ही कारण है।

किसी भी कार्य की सम्पन्नता में समय एवं शक्ति का निःस्वार्थ योगदान करने वाले का महत्त्व जब तक समाज नहीं समझेगा तब तक समाज एक नहीं हो सकेगा और न ही आगे बढ़ सकेगा। यहाँ एक बिन्दु यह भी ध्यातव्य है कि सेवा करने वाले के त्याग का मूल्य धन से नहीं आंका जा सकता। धन से मूल्य आंकने पर सेवा का महत्त्व कम हो जाता है, जो समाज के वास्तविक विकास में सहायक नहीं है।

अब विचार यह किया जाना है कि सेवा एवं सामायिक में क्या श्रेष्ठ है? इसके उत्तर में कहना होगा कि श्रेष्ठता व्यक्ति की पात्रता पर निर्भर करती है। वह कितने विवेक से सेवा कार्य करता है तथा कितने विवेक से सामायिक करता है, यह ही उसके लिए मूलाधार है। कर्म-निर्जरा में एवं संवर में ये दोनों सहयोगी हैं। सामायिक में अशुभ योगों की निवृत्ति होने से संवर की प्रधानता मानी गई है, जो नये कर्म-बन्धन को रोकने में सहायक है, साथ ही समभाव की प्राप्ति कर्म-निर्जरा का प्रमुख साधन है। समभाव की साधना से गजसुकुमाल अणगार एक ही रात्रि में केवलज्ञान एवं निर्वाण को प्राप्त हुए। एक नहीं ऐसे अनेक उदाहरण हैं। अर्जुन अणगार गालियों एवं प्रतिकूलता के प्रहारों में समत्वभाव रखते हुए केवली हो गए। दूसरी ओर सेवा स्वयं एक तप है, अतः उसके सम्यक् आचरण से पूर्वोपार्जित पाप कर्मों की निर्जरा होती है। सेवाभावी व्यक्ति अशुभ विचारों, सावद्य वचनों आदि पर भी नियन्त्रण करके चलता है, अतः वह भी संवर का आराधक बनता है। इस प्रकार आपेक्षिक दृष्टि से दोनों प्रवृत्तियाँ अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। इसलिए सामायिक-साधक किसी सेवाभावी व्यक्ति को हीन समझे या सेवाभावी व्यक्ति सामायिक-आराधना को व्यर्थ समझे तो यह उचित नहीं है। धर्म की आराधना एवं आत्मिक विकास में दोनों का अपना महत्त्व है। दोनों ही साधना रूप हैं। बशर्ते वे साधनाएँ सम्यक्रूपेण की गई हों।

सेवा एवं सामायिक परस्पर विरोधी नहीं हैं, अपितु एक-दूसरे की पूरक हो सकती हैं। सेवा का एक अन्य पक्ष यह भी है कि इससे सेवक एवं सेव्य दोनों को लाभ होता है। सेवक को कर्म-निर्जरा होने से एवं सेव्य की प्रसन्नता को देखकर प्रमोद का अनुभव होता है और सेव्य के कष्ट का निवारण होने से उसे भी लाभ ही है। कदाचित् सेव्य में भी सेवा के संस्कारों का वपन हो सकता है। यह उसके आत्मिक विकास का दूसरा लाभ है। इस प्रकार सेवा में स्व एवं पर दोनों का कल्याण सम्भव है। सामायिक

में आत्मिक निर्मलता की प्रधानता है, उसके व्यवहार से भी दूसरों को प्रसन्नता का अनुभव हो सकता है। किन्तु दोनों में एक स्थूल अन्तर है सेवा में सेव्य एवं सेवक दोनों एक ही काल में लाभान्वित होते हैं। सामायिक-साधना में ऐसा स्थूल स्तर पर नहीं होता। सूक्ष्म स्तर पर तो वहाँ भी जीवों को अभयदान मिलता है। किन्तु स्थूल स्तर पर सामायिक का काल भिन्न एवं अन्यों के साथ उसके व्यवहार का काल प्रायः भिन्न होता है। इस व्यवहार में उसकी सामायिक का प्रभाव अंकित होता है। इस प्रकार सामायिक एवं सेवा दोनों ही साधकों के द्वारा उपादेय हैं तथा दोनों में से किसी भी एक को पहले अपनाकर स्व-पर कल्याण के मार्ग पर बढ़ा जा सकता है।

- **सामायिक और सेवा यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक होते हैं तो दोनों मुक्ति के साधन हैं।**
- **सामायिक के साथ सेवा एवं सेवा के साथ सामायिक का होना आवश्यक है।**
- **समस्त प्राणियों के प्रति समताभाव (राग-द्वेष रहित आत्मीय भाव), संयम और शुभ भावना हो तथा आर्त्त एवं रौद्र ध्यान का त्याग हो तो सामायिक व्रत होता है।**
- **गृहस्थ को सामायिक के साथ सेवाकार्य के लिए तथा सेवा कार्य के साथ सामायिक के लिए समय निकालना चाहिये। यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि साधना के ये दोनों पक्ष सम्यग्दर्शन पूर्वक हों, निर्दोष हों तथा निर्मल भावों के साथ हों।**

जिस व्यक्ति की जैसी रुचि एवं पात्रता है - वह उससे ही अपनी साधना का प्रारम्भ कर सकता है। सेवा एवं सामायिक एक दूसरे के विरोधी नहीं, अपितु पूरक हैं। सेवा करने वाला यदि सामायिक को अनुपयोगी मानता है तो यह भी उचित नहीं और सामायिक करने वाला करुणा, अनुकम्पा एवं सेवा से परहेज करे तो यह भी समीचीन नहीं। सामायिक एवं सेवा दोनों का अपना महत्त्व है। साधना की श्रेष्ठता साधक के भावों पर निर्भर करती है।

मोह गलाने के लिए आत्मीय भाव से की गई सेवा जीव के 'अनुकम्पा' गुण की द्योतक है। अनुकम्पा को सम्यग्दर्शन का लक्षण माना गया है। सम्यग्दर्शन के बिना सामायिक की पूर्णता नहीं होती है। सामायिक के तीन रूप हैं- श्रुत सामायिक, सम्यक्त्व सामायिक और चारित्र सामायिक। श्रुत सामायिक एवं सम्यक्त्व सामायिक में अनुकम्पा युक्त सेवा उपादेय है। चारित्र सामायिक का साधक षट्काय के जीवों पर अभयदान करते समय भावसेवा

से युक्त होता है।

सेवा एवं सामायिक को पूर्णतः पृथक् समझना उचित नहीं कहा जा सकता। सामायिक और सेवा यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक होते हैं तो दोनों मुक्ति के साधन हैं। सामायिक के लिए कहा गया है कि जितने भी जीव मोक्ष में गए हैं, जाते हैं और जायेंगे – वे सब सामायिक को अपनाकर ही जाते हैं।

सामायिक के साथ सेवा एवं सेवा के साथ सामायिक का होना आवश्यक है। सामायिक चारित्रधारी श्रमण भी वैयावृत्त्य या सेवा को अपनाता है तथा चारित्रधारी आत्माओं और संघ की सेवा करना कर्म-निर्जरा का महान् हेतु बताया गया है। दश प्रकार के वैयावृत्त्य सामायिक को यशस्विनी बनाते हैं। इसलिए सामायिक और सेवा परस्पर इस प्रकार गुम्फित हैं कि एक के बिना दूसरे की पूर्णता नहीं होती।

आगमों में प्रतिपादित 'वैयावृत्त्य' सेवा का उत्कृष्ट रूप है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष(नवदीक्षित),ग्लान (रोगी), गण, कुल, संघ, साधु और समनोज्ञ की वैयावृत्त्य के भेद से वैयावृत्त्य के दश प्रकार निरूपित हैं। ये भेद प्रमुखतः साधु-साध्वियों द्वारा किए जाने वाले वैयावृत्त्य को लक्ष्य में रखकर किए गए हैं, किन्तु इनका अभिप्राय उपलक्षण से श्रावक-श्राविकाओं द्वारा की जाने वाली सेवा में भी चला जाता है। गृहस्थ जीवन में ग्लान के साथ वृद्ध, माता-पिता, दीन-दुःखी, विकलांग आदि की सेवा भी ग्राह्य मानी जाती है। जीवन-रक्षा के लिए की गई सेवा सांसारिक मानवों के लिए उपादेय ही है। सेवा के विभिन्न रूप हैं। उन सबको दो भागों में विभक्त किया जा सकता है-1. सेव्य के लिए भौतिक आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नायक। 2. सेव्य के लिए भौतिक दृष्टि से उन्नायक।

आचार्य आदि सन्त-महापुरुषों की सेवा आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नायक होती है, जबकि साधारण व्यक्तियों/प्राणियों की सेवा उनके जीवन की रक्षा एवं विकास में सहयोगी होती है। यह उल्लेख सेव्य की दृष्टि से है। सेवा करने वाले में तो भावों की प्रधानता देखी जाती है। वह यदि प्रतिफल की अभिलाषा के बिना आत्मीयता से परोपकार करता है तो वह सेवा है। ऐसी सेवा कर्म-निर्जरा में सहायक होती है। मोहगर्भित, स्वार्थप्रेरित और सुयश की कामना से की गई सेवा परमार्थतः सेवा नहीं है। व्यवहार में इसे सेवा के नाम से सम्बोधित किया जाता है, किन्तु यह कर्म-निर्जरा में सहायक नहीं होती है।

मोह एवं स्वार्थ के कारण परिवारजन की सेवा-शुश्रूषा की जाती है। यह

सेवा का व्यावहारिक रूप है। मानवजाति एवं प्राणिमात्र की सेवा के लिए आज अनेक संस्थाएँ कार्यरत हैं। इन संस्थाओं से दीन-दुःखी, विकलांग, असहाय, वृद्ध, विधवा आदि को राहत का अनुभव होता है। कई बार वे अपने जीवन को सुरक्षित एवं लाभान्वित अनुभव करते हैं। यह सेवाकार्य समाज में बहुत सराहा जाता है। किन्तु इससे यदि सेवक सुयश की कामना की पूर्ति में लग जाता है तो उसे कोई विशेष लाभ नहीं होता। भौतिक सेवाकार्य में कतिपय दोषों की आशंका है, यथा- 1. अहंकार का पोषण, 2. सुयश की कामना, 3. आरम्भ-समारम्भ, 4. राग-द्वेष एवं निन्दा विकथा के निमित्तों की प्राप्ति।

सच्चा सेवक यदि अपना मोह गलाने के लिए सेवा करता है तो उसे आध्यात्मिक दृष्टि से लाभ होता है। उसके कतिपय लाभ इस प्रकार हैंः-

1. पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा
2. सहिष्णुता, समता,क्षमा आदि सद्गुणों का विकास
3. उदारता, आत्मीयता आदि भावों के विकास से अन्य प्राणियों के साथ मैत्रीभाव की स्थापना।
4. पर्यावरण की रक्षा।
5. अनेक प्राणियों को प्राणदान/अभयदान एवं उनकी रक्षा।
6. सम्यग्दर्शन के लक्षण-'अनुकम्पा' का जीवन में विकास।

सामायिक साधना उत्कृष्ट है। इसमें हिंसा आदि 18 पापों से दूर रहकर आत्म-चिन्तन करते हुए समभाव का अभ्यास किया जाता है। मन,वचन एवं काया के 32 दोषों को टालते हुए सामायिक-साधना करना 'कषाय-विजय' का उत्कृष्ट पथ है। सामायिक का साधक करुणाहीन हो ऐसा सम्भव नहीं। सामायिक के सम्बन्ध में कहा है-

समता सर्वभूतेषु, संयमः शुभभावना।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥

समस्त प्राणियों के प्रति समताभाव (राग-द्वेष रहित आत्मीय भाव), संयम और शुभभावना हो तथा आर्त एवं रौद्र ध्यान का त्याग हो तो सामायिक व्रत होता है। सामायिक के लाभ संक्षेप में इस प्रकार हैंः- 1. मन, वचन एवं काया पर नियंत्रण। 2. 18 पापों का त्याग/सावद्य-प्रवृत्ति पर नियन्त्रण। 3. समभाव की प्राप्ति। 4. सब जीवों के प्रति वैरभाव का त्याग तथा मैत्रीभाव की स्थापना। 5. संवर एवं निर्जरा की साधना।

'सामायिक' का आराधन सम्यक् रीति से हो, तो ही आत्मकल्याण सम्भव है, अन्यथा मात्र वेश परिवर्तन से सामायिक का पूरा लाभ नहीं मिलता है। सामायिक की साधना मात्र एक खानापूर्ति नहीं है– इसके साथ अपने भावों की निर्मलता का जुड़ाव आवश्यक है। यह तनाव को दूर कर अपने मनोबल एवं आत्मबल का विकास करने हेतु भी लाभकारी है।

तात्त्विक दृष्टि से सामायिक की उपयोगिता प्रथम श्रेणी में आती है तथा व्यावहारिक रूप से सेवा की उपादेयता का प्रथम स्थान है। परमार्थ एवं व्यवहार दोनों ही जैन साधना में उपयोगी हैं। अतः गृहस्थ को सामायिक के साथ सेवाकार्य के लिए तथा सेवाकार्य के साथ सामायिक के लिए समय निकालना चाहिये। यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि साधना के ये दोनों पक्ष सम्यग्दर्शन पूर्वक हों, निर्दोष हों तथा निर्मल भावों के साथ हों। सामायिक प्रमुखतः संवर की साधना है, किन्तु गौण रूप से वह कर्म-निर्जरा में सहायक है। इसी प्रकार सेवा (वैयावृत्त्य) तप प्रधानतः कर्म-निर्जरा में भी सहायक है। वह मन, वचन एवं काया की अशुभ प्रवृत्ति को नियन्त्रित करने के कारण संवर साधना रूप भी है।

अन्त में निष्कर्ष यह है कि सेवा एवं सामायिक के एकान्तवाद एवं पृथक्तावाद को त्यागकर इनमें अपेक्षित अनेकान्त एवं समन्वय को स्थापित करने की आवश्यकता है।

(जुलाई एवं सितम्बर, 2002 का संयोजित रूप)

ज्ञान एवं क्रिया दोनों आवश्यक

जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष-मार्ग निरूपित किया गया है। इसे संक्षेप में 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' के रूप में भी व्याख्यायित किया जाता है। ज्ञान एवं क्रिया दोनों के होने पर ही दुःखों से एवं पूर्वबद्ध कर्मों से मुक्ति मिल सकती है। कोरा ज्ञान भी मुक्ति दिलाने में पर्याप्त नहीं और कोरी क्रिया भी मुक्ति में सहायक नहीं। प्रश्न होता है कि कोरे ज्ञान से दुःखमुक्ति क्यों नहीं हो सकती? तो इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि रोग को मिटाने वाली औषधि का ज्ञान हो, किन्तु उसका यदि सेवन न किया जाए तो रोग मिटने वाला नहीं है। इसी प्रकार जीवन में अहिंसा, सत्य, सरलता, निरभिमानता आदि सद्गुणों की आवश्यकता का बोध तो हो, किन्तु उनको आचरण में न लाया जाए तो वह ज्ञान दुःखमुक्ति में सहायक नहीं बनता। यही नहीं, क्रिया के अभाव में वह ज्ञान भी मन्द/आवरित हो जाता है। ज्ञान सबल एवं स्पष्ट हो तो आचरण का पक्ष स्वतः मजबूत होता है। अन्यथा व्यक्ति कर्म-सिद्धान्त 'जैसा करेगा वैसा भरेगा' के अनुसार संसार-सागर के दुःखों में ही डुबकी लगाता रहता है। जैनदर्शन में संवर एवं निर्जरा की समस्त साधना 'क्रिया' या आचरण के अन्तर्गत आ जाती हैं। संवर से तो नये कर्मों

- **ज्ञान एवं क्रिया दोनों के होने पर ही दुःखों से एवं पूर्वबद्ध कर्मों से मुक्ति मिल सकती है।**
- **कोरे ज्ञान से दुःखमुक्ति क्यों नहीं हो सकती? तो इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि रोग को मिटाने वाली औषधि का ज्ञान हो, किन्तु उसका यदि सेवन न किया जाए तो रोग मिटने वाला नहीं है। इसी प्रकार जीवन में अहिंसा, सत्य, सरलता, निरभिमानता आदि सद्गुणों की आवश्यकता का बोध तो हो, किन्तु उनको आचरण में न लाया जाए तो वह ज्ञान दुःखमुक्ति में सहायक नहीं बनता।**

- **ज्ञानरहित क्रिया भी दुःखमुक्ति में सहायक नहीं होती। वह संसार में भटकाने वाली एवं समस्याओं में उलझाने वाली होती है।**

के आस्रव का निरोध होता है तथा तप (निर्जरा) द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय होता है।

इसी प्रकार ज्ञानरहित क्रिया भी दुःखमुक्ति में सहायकनहीं होती। वह संसार में भटकाने वाली एवं समस्याओं में उलझाने वाली होती है। प्राचीनकाल में अनेक ऐसे तपस्वी हुए हैं, जो सैकड़ों वर्षों तक तप करके भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सके। कहा भी है कि अज्ञानी व्यक्ति जिन कर्मों का लाखों-करोड़ों वर्षों में भी क्षय नहीं कर सकता, ज्ञानी ऐसे कर्मों का क्षय श्वासोच्छ्वास मात्र (क्षणमात्र) में कर देता है-

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि, भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तीहिं गुत्तो, खवेदि उस्सामेत्तेण।।

-प्रवचनसार 3.38

व्यवहार भाष्य (7.217) में कहा है- **'नाणम्मि असंतंमि चरित्तं वि न विज्जए।'**

अर्थात् जब तक ज्ञान नहीं है, तब तक चारित्र नहीं है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्ज्ञान के अभाव में तप आदि समस्त क्रियाएँ चारित्र की श्रेणि में नहीं आती हैं। सम्यग्ज्ञान के होने पर ही साधनानिष्ठ क्रियाएँ चारित्र का रूप ग्रहण करती हैं। दशवैकालिक सूत्र (4.10) में भी कहा गया है-**'पढमं नाणं तओ दया।'** अर्थात् पहले ज्ञान होना चाहिए तथा उसके अनुसार आचरण होना चाहिए। यहाँ ज्ञान होने का तात्पर्य क्या है? जानकारी होना ही ज्ञान नहीं होता, अपितु जो ज्ञान आत्म-निर्मलता में सहायक बनता है, वही ज्ञान की श्रेणि में आता है। कहा भी है-

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे।।

जिससे तत्त्व का बोध हो, जिससे चित्त का निरोध हो, जिससे आत्मा विशुद्ध हो, जिनशासन में वह ज्ञान है। ऐसा ज्ञान ही मन रूपी हाथी को वश में करने में समर्थ होता है -**'णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स।'-भगवती आराधना, 760**

ज्ञान वह है जो राग-द्वेष को दूर करे, समता में रहने का प्रशिक्षण दे तथा व्यक्ति को विवेकी बनाए। ज्ञान ही वैराग्य को दृढ करने में एवं समस्याओं के निराकरण में सहायक होता है। ज्ञान न हो तो क्रिया में सर्वत्र लक्ष्य से स्खलना हो सकती है। ज्ञान न हो तो क्रिया का भी अभिमान हो सकता है। 'मैं बड़ा संयमी', 'मैं बड़ा क्रियानिष्ठ', 'मेरी जितनी सामायिक करने वाला दूसरा नहीं' इस प्रकार का अभिमान आ सकता है। ज्ञान ही इस अभिमान पर नियन्त्रण करने में सहयोगी बनता है। उत्तराध्ययन सूत्र (28.30) में इसलिए स्पष्ट कहा है-'**नाणेण विणा न हुंति**

चरणगुणा।' अर्थात् ज्ञान के बिना चारित्र के गुण नहीं आते हैं। ज्ञान से ही ध्यान की सिद्धि होती है–

णाणेण ज्झाणसिज्झी, झाणाओ सव्वकम्मणिज्जरणं।
णिज्जरणफलं मोक्खो, णाणब्भासं तओ कुज्जा।।

अर्थात् ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है। ध्यान से सब कर्मों की निर्जरा होती है, निर्जरा का फल मोक्ष है, इसलिए ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।

मनुष्य जो भी क्रिया करे, उसे ज्ञानपूर्वक करे, सजगतापूर्वक करे तो वह क्रिया दुःखमुक्ति रूप फल को परलोक में ही नहीं इस लोक में भी प्रदान करने वाली बन सकती है तथा अज्ञान के अंधेरे में की गई क्रिया दुःख बढ़ाने वाली या संसार के गहरे गह्वर में पटकने वाली हो सकती है। इसलिए भगवान महावीर ने मात्र क्रिया पर बल देने की बात नहीं कही और न मात्र ज्ञान तक सीमित रहने की प्रेरणा की, उन्होंने दोनों को जीवन में स्वयं स्थान दिया तथा दूसरों को भी इसी की प्रेरणा की। इसलिए आँखे खोलकर सजगता के साथ राग–द्वेष से परे ले जाने के लिए क्रिया का आचरण हितावह है। बाह्य क्रिया के प्रति आकर्षण में तब तक धोखा हो सकता है, जब तक कि स्वयं में ज्ञान का चक्षु खुला न हो। इसलिए ज्ञान का चक्षु खोलकर क्रिया को अपनाने में मानव का कल्याण है। ज्ञानशून्य क्रिया निष्प्राण है, वह बाहर से प्रभावित कर सकती है, किन्तु उससे आत्मनिर्मलता का फल प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार क्रियाशून्य ज्ञान भी पर्याप्त नहीं, क्योंकि ज्ञान मानव को उपाय तो सुझाता है, किन्तु मन की कमजोरी उसके आचरण में बाधक बनकर उभरती है। इसलिए जैनदर्शन में ज्ञान एवं क्रिया दोनों पर समान बल है। दोनों के समन्वय को स्थान है।(फरवरी, 2005)

- **सम्यग्ज्ञान के होने पर ही साधनानिष्ठ क्रियाएँ चारित्र का रूप ग्रहण करती हैं।**
- **ज्ञान वह है जो राग–द्वेष को दूर करे, समता में रहने का प्रशिक्षण दे तथा व्यक्ति को विवेकी बनाए।**
- **ज्ञानशून्य क्रिया निष्प्राण है।**
- **क्रियाशून्य ज्ञान भी पर्याप्त नहीं, क्योंकि ज्ञान मानव को उपाय तो सुझाता है, किन्तु मन की कमजोरी उसके आचरण में बाधक बनकर उभरती है।**
- **मनुष्य जो भी क्रिया करे, उसे ज्ञानपूर्वक करे, सजगतापूर्वक करे तो वह क्रिया दुःखमुक्ति रूप फल को परलोक में ही नहीं इस लोक में भी प्रदान करने वाली बन सकती है तथा अज्ञान के अंधेरे में की गई क्रिया दुःख बढ़ाने वाली या संसार के गहरे गह्वर में पटकने वाली हो सकती है।**

इन्द्रियज्ञान, भोगवती एवं विवेकवती बुद्धि

आधुनिक वैज्ञानिक युग में ज्ञान का बड़ा विकास हुआ है। ज्ञान के विभिन्न नये क्षेत्र प्रकाश में आ रहे हैं। ज्ञान की कितनी भी शाखाएँ क्यों न हों, किन्तु स्थूल रूप से ज्ञान को तीन स्तरों में विभक्त किया जा सकता है–इन्द्रियज्ञान, बुद्धिज्ञान और बुद्धि से अतीत का ज्ञान। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना एवं स्पर्शन इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों से जन्य ज्ञान को हम इन्द्रियज्ञान, चिन्तनशील बुद्धि से जन्य ज्ञान को बुद्धि ज्ञान और बुद्धि के परिवर्तन को जानने वाले ज्ञान को बुद्धि से अतीत का ज्ञान कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में बुद्धि से अतीत का ज्ञान ही विवेकज्ञान है।

जैन परम्परा में ज्ञान के पाँच प्रकार हैं–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान,अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान और केवलज्ञान। इनमें से हमें वर्तमान में दो ही ज्ञान प्राप्त हैं– मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। ये दोनों इन्द्रिय एवं मन के आश्रित होने के कारण परोक्ष एवं शेष अवधि आदि तीन ज्ञान इन्द्रियादि की अपेक्षा के बिना, सीधे आत्मा से होने के कारण प्रत्यक्ष कहे जाते हैं। मतिज्ञान के तीन प्रमुख रूप हैं– 1. इन्द्रिय ज्ञान 2. अनिन्द्रियज्ञान(मन से होने वाला ज्ञान) 3. बुद्धि ज्ञान। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है; अतः वह मतिज्ञान का परिणाम होने से विचारात्मक/शब्दात्मक ज्ञान होता है। श्रुतज्ञान जीव के विवेक ज्ञान

- **ज्ञान को तीन स्तरों में विभक्त किया जा सकता है– इन्द्रिय ज्ञान, बुद्धिज्ञान और बुद्धि से अतीत का ज्ञान। बुद्धि से अतीत का ज्ञान ही विवेकज्ञान है।**
- **मतिज्ञान के तीन प्रमुख रूप हैं– 1. इन्द्रियज्ञान, 2. अनिन्द्रिय-ज्ञान (मन से होने वाला ज्ञान), 3. बुद्धिज्ञान।**
- **श्रुतज्ञान जीव के विवेक ज्ञान को सूचित करता है।**
- **मानव की पशु से यदि कोई विशेषता है तो वह उसके बुद्धिज्ञान का विकास है।**
- **बुद्धि दो प्रकार से कार्य करती है। कभी वह मन के अधीन होती है तो कभी मन उसके अधीन होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो कभी वह भोगवती होती है तो कभी वह विवेकवती होती है।**

- **भोगवती बुद्धि ईर्ष्या-द्वेष एवं घृणा का कारण बनती है जबकि विवेकवती बुद्धि हार्दिक प्रेम, सहयोग एवं मैत्री उत्पन्न करती है।**
- **जिसका मन विषय भोगों में नहीं अटकता वही जीवन में सत्य का दर्शन कर पाता है, वही संसार को दिशा निर्देश कर पाता है तथा महान् बनता है।**
- **भोगवती बुद्धि से ही आज देश में चरित्र हनन हो रहा है तथा पद की गरिमा को भी इसी कारण ताक में रख दिया जाता है।**
- **भोगवती बुद्धि पारस्परिक संघर्ष को जन्म देती है, टकराव पैदा करती है, जबकि विवेकवती बुद्धि पारस्परिक संघर्ष एवं टकराव में व्यय होने वाली ऊर्जा को बचा लेती है तथा सन्मार्ग को प्रस्तुत करती है।**
- **इन्द्रियज्ञान एवं बुद्धिज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण है-विवेक ज्ञान। विवेकज्ञान से ही भोगवती एवं विवेकवती बुद्धि का भेद ज्ञात होता है।**
- **जिसका विवेकज्ञान जितना अधिक प्रकाशित होता है वह उतना ही सन्तुष्ट, आनन्दित एवं सत्पथ पर अग्रसर होता है।**

को सूचित करता है। अतः वह मतिज्ञान से भिन्न बुद्धि से अतीत का ज्ञान भी है।

हम प्रायः इन्द्रियज्ञान के आधार पर जीते हैं। हमारे पर इन्द्रिय ज्ञान का इतना प्रभाव है कि हम इन्द्रियों के माध्यम से होने वाले ज्ञान को ही अधिकतर सत्य, शाश्वत एवं आधारभूत ज्ञान मानते हैं। किन्तु इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान बुद्धिजन्यज्ञान की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण है। कभी-कभी वह बुद्धिज्ञान से बाधित भी होता है। मात्रात्मक और सूचनात्मक रूप में इन्द्रियज्ञान का महत्त्व अधिक हो सकता है, किन्तु बुद्धिज्ञान का निर्णयात्मक और गुणात्मक पक्ष मजबूत है।

मानव की पशु से यदि कोई विशेषता है तो वह उसके बुद्धिज्ञान का विकास है। इन्द्रियज्ञान तो पशु और पक्षियों में भी विकसित मिल सकता है। एक चींटी को दूर से मधुर मधु की भीनी गंध आ सकती है और वह वहाँ पहुँच सकती है; एक कुत्ते को दूर से आहट सुनाई दे सकती है और वह दौड़कर दरवाजे के बाहर पहुँच सकता है। आकाश में उड़ते हुए गिद्ध को मैदान में पड़ा हुआ चूहा दिखाई दे सकता है और वह उस पर झपटने आ सकता है, किन्तु उनमें बुद्धि का विकास मानव की तुलना में कम है। यही कारण है कि मानव ने कम्प्यूटरों एवं सुपर कम्प्यूटरों का निर्माण कर लिया है, जेनेटिक इंजीनियरिंग को समझा है और अंतरिक्ष में सेटेलाइट स्थापित कर लिये हैं। संक्षेप में

कहें तो मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसने दुनिया में बुद्धि के बल पर अनेकविध विकास किया है। चिड़िया, चींटी, गाय, भैंस आदि के द्वारा किये गए बौद्धिक विकास का कोई रूप नज़र नहीं आता है।

बुद्धिजन्य ज्ञान का महत्त्व इन्द्रियज्ञान से असंख्य गुणा अधिक है। किन्तु यह जानना आवश्यक है कि वह बुद्धि दो प्रकार से कार्य करती है। कभी वह मन के अधीन होती है तो कभी मन उसके अधीन होता है। कभी वह इन्द्रिय ज्ञान से प्रभावित होती है तो कभी वह इन्द्रियज्ञान से ऊपर उठकर विवेक से प्रकाशित होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो कभी वह भोगवती होती है तो कभी वह विवेकवती होती है। इन्द्रियज्ञान से प्रभावित होकर यदि मैं वी.सी.आर. के सामने बैठकर घंटों तक फिल्म देखता रहता हूँ तब भोगवती बुद्धि मेरे इस कार्य को तर्क देकर उपयुक्त ठहराती है कि मैं अपने समय का सही उपयोग कर रहा हूँ जबकि विवेकवती बुद्धि कहेगी कि अभी तुम्हें अध्ययन करना है, अथवा लेख लिखना है वह अधिक महत्त्वपूर्ण है, फिल्म देखना उसके लिए व्यवधान है।

इन्द्रियज्ञान कहता है कि नई साड़ी अच्छी है, खरीद लेनी चाहिए। भोगवती बुद्धि इसे पुष्ट करती हुई कहती है कि अभी वेतन मिला है, शीघ्रता करनी चाहिए। विवेकवती बुद्धि कहती है कि अभी तो 25 साड़ियाँ पड़ी हैं, नई साड़ी को खरीदने की कोई उपयोगिता नहीं है। भोगवती एवं विवेकवती बुद्धि में उतना ही अन्तर है जितना प्रकाश एवं अंधकार में। भोगवती बुद्धि पुरुष को अंधकार की ओर ले जाती है तो विवेकवती बुद्धि प्रकाश की ओर ले जाती है। भोगवती बुद्धि वाला मनुष्य डाकू के समान है जो अपनी बुद्धि का उपयोग दूसरे को लूटने में करता है। विवेकवती बुद्धि वाला मनुष्य एक डॉक्टर के समान है। जैसे डॉक्टर अपने चाकू का उपयोग दूसरों का आपरेशन करने में करता है, दूसरों का रोग निवारण कर उन्हें स्वस्थ बनाने में करता है उसी प्रकार विवेकवती बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति अपने साधनों का सदुपयोग स्वहित या परहित में करता है।

भोगवती बुद्धि विनाश की ओर ले जाती है, हमें जड़ बनाती है जबकि विवेकवती बुद्धि विकास की ओर ले जाती है वह हमें संवेदनशील बनाती है। भोगवती बुद्धि का कार्य अपने ही सुख एवं स्वार्थ का पोषण करना है जबकि विवेकवती बुद्धि दूसरे लोगों के भी सुख एवं समृद्धि का खयाल करती है। भोगवती बुद्धि ईर्ष्या-द्वेष एवं घृणा का कारण बनती है जबकि विवेकवती बुद्धि हार्दिक प्रेम, सहयोग एवं मैत्री को उत्पन्न करती है। भोगवती बुद्धि इन्द्रियज्ञान से प्रभावित होती है, जबकि विवेकवती

बुद्धि बुद्धि से अतीत के ज्ञान 'विवेक' से प्रभावित होती है।

अविवेकिनी बुद्धि अनर्थकारिणी होती है। पंचतंत्र में यौवन, धनसम्पत्ति, प्रभुता एवं अविवेकिता में से प्रत्येक को अनर्थकारी प्रतिपादित किया गया है।

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम्।।

संसार में अभीष्ट विषयों को दो रूपों में रखा जा सकता है- प्रेय और श्रेय। कुछ वस्तुएँ हमें प्रिय लगती हैं, किन्तु वे हमारे लिए कल्याणकारी नहीं होती। कुछ वस्तुएँ हमारे लिए कल्याणकारी होती हैं, भले ही वे वस्तुएँ हमें प्रिय लगें या न लगें। विवेकवती बुद्धि श्रेय वस्तु को चुनती है, प्रेय को नहीं। कठोपनिषद् में यम-नचिकेता का संवाद आता है। नचिकेता ने यम से आत्मज्ञान सीखने की अभिलाषा प्रकट की तथा यम के द्वारा दिये गये प्रलोभनों को नकार दिया। यम ने नचिकेता को प्रलोभन दिया कि सौ वर्षों की आयु वाले पुत्र-पौत्रों को मांग लो, अनेक पशुओं, हाथी एवं स्वर्ण को मांग लो, भूमि का बहुत बड़ा भाग मांग लो तथा स्वयं भी जितने वर्ष जीना चाहो, जीओ। यम ने नचिकेता से कहा- हे नचिकेत ! जो काम-भोग मनुष्यलोक में दुर्लभ हैं उन सबको भी तुम स्वच्छंद रूप से मांग लो, किन्तु मरण के बारे में, आत्मज्ञान के बारे में कुछ भी मत पूछो। श्रेय के अभिकांक्षी नचिकेता ने यम के एक भी प्रलोभन को स्वीकार नहीं किया तथा प्रबल शब्दों में कहा- **'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'** (कठोपनिषद् 1.1.27) अर्थात् धन से कोई मनुष्य संतुष्ट होने वाला नहीं है। सब कुछ पाकर भी एक दिन मरना होता है, **'अपि सर्वं जीवितमल्पमेव'**। सम्पूर्ण जीवन थोड़ा ही है। नचिकेता की दृष्टि विवेकवती बुद्धि से सम्पन्न थी, अतः उसका मन विषय भोगों में नहीं अटक सका।

इसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में भृगु पुरोहित एवं उसके पुत्रों का संवाद आता है। भृगु पुरोहित अपने पुत्रों को सांसारिक सुख-भोगों एवं सुविधाओं का प्रलोभन देना चाहता है, किन्तु दोनों पुत्र अपने पिता को संसार की वास्तविकता से अवगत कराकर वैराग्य पर दृढ़ रहते हैं। पुरोहित अपने पुत्रों से कहता है कि जिन भौतिक वस्तुओं, धन एवं भोगों के लिए लोग तप करते हैं, वे सब तुम्हें प्राप्त हैं, फिर श्रमण क्यों बनना चाहते हो ? पुरोहित पुत्रों ने उत्तर दिया-

धणेण किं धम्मधुराहिगारे, सयणेण वा कामगुणेहि चेव।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी, बहिं विहारा अभिगम्म भिक्खं ।।

उत्तरा.14.17

धर्म की धुरा को वहन करने में धन की आवश्यकता नहीं है। हमें स्वजन एवं कामभोगों की भी जरूरत नहीं। हम तो गुणधारी श्रमण बनना चाहते हैं। धर्मनिष्ठ पुत्रों से प्रभावित होकर पुरोहित एवं उसकी पत्नी भी संसार से विरक्त हो जाते हैं। यह भी विवेकवती बुद्धि का परिणाम है।

जिसका मन विषय भोगों में नहीं अटकता वही जीवन में सत्य का दर्शन कर पाता है, वही संसार को दिशा निर्देश कर पाता है तथा महान् बनता है। भगवान् महावीर, इन्द्रभूति गौतम आदि का मन भोगों से ऊपर उठा, इसलिए वे समाज एवं समुदाय के लिए चिन्तन कर सके तथा महान् बन सके। भोगी व्यक्ति स्वार्थी होता है तथा स्वार्थी व्यक्ति समुदाय के लिए नहीं सोचता। वह समुदाय का उपयोग भी अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही करता है। ऐसे सज्जन पुरुष कम ही होते हैं जो अपने स्वार्थ का परित्याग करके परहित में रत होते हों। अन्यथा ऐसे भी बुद्धिमान् (भोगवती बुद्धि सम्पन्न) पुरुष मिलते हैं जो अपने स्वार्थ की पूर्ति में दूसरों को पहुँच रही हानि का भी विचार नहीं करते हैं।

चरित्र एवं योग्यता का विकास भारतीय शिक्षा की नई नीति का लक्ष्य माना गया है– यह लक्ष्य तभी पूरा हो सकता है जब देश के नागरिकों में विवेकवती बुद्धि का विकास हो। भोगवती बुद्धि से ही आज देश में चरित्र हनन हो रहा है तथा पद की गरिमा को भी इसी कारण ताक में रख दिया जाता है। भोगवती एवं विवेकवती बुद्धि में जो मुख्य अन्तर है, उसे कतिपय निम्नांकित बिन्दुओं में रखा जा सकता है–

1. भोगवती बुद्धि पारस्परिक संघर्ष को जन्म देती है, टकराव पैदा करती है, जबकि विवेकवती बुद्धि पारस्परिक संघर्ष एवं टकराव में व्यय होने वाली ऊर्जा को बचा लेती है तथा सन्मार्ग को प्रस्तुत करती है।
2. भोगवती बुद्धि वाला व्यक्ति ईर्ष्या, द्वेष एवं तनाव से ग्रस्त होता है जबकि विवेकवती बुद्धि वाला व्यक्ति इनसे परे रहता है। उसे दूसरों को सुखी देखकर भी प्रसन्नता होती है।
3. भोगवती बुद्धि वाले पुरुष का दृष्टिकोण संकीर्ण होता है जबकि विवेकवती बुद्धि वाले पुरुष का दृष्टिकोण व्यापक होता है। वह अपनी ही नहीं, सबकी सोचता है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति ही उसका लक्ष्य होती है।
4. भोगवती बुद्धि जहाँ मकड़जाल में फंसाती है, संसार में भटकाती है एवं असत्य में सत्य की मिथ्या प्रतीति कराती है वहाँ विवेकवती बुद्धि सत्य का भान कराकर सन्मार्ग में प्रवृत्त कराती है।

जीवन के वास्तविक उन्नयन हेतु विवेकवती बुद्धि ही अपेक्षित है, भोगवती बुद्धि नहीं। तभी 'असतो मा सद्गमय ' एवं 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की दृष्टि लिए हुए जीवन को असत् से सत् एवं अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाया जा सकता है। जो विद्या सत् से असत् की ओर तथा प्रकाश से अंधकार की ओर ले जाती है, वह विद्या नहीं अविद्या है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि जो पुरुष अविद्या की उपासना करते हैं वे घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं–**अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।** (ईशावास्योपनिषद्, 9) उत्तराध्ययनसूत्र में भी ज्ञान को प्रकाशित करने तथा अज्ञान एवं मोह का त्याग करने की प्रेरणा की गई है–

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएण, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं।।

(उत्तरा. 32.2)

जो ज्ञान को प्रकाशित कर अज्ञान एवं मोह का नाश करता है वह ही एकान्त सुख रूप मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। नीति का एक श्लोक है–

विद्या विवादाय, धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत्, ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।

विवेकशील जो सज्जन पुरुष होते हैं वे अपनी विद्या, धन और शक्ति का उपयोग दूसरों को ज्ञान वितरण करने, धन देने और रक्षा करने में करते हैं जबकि मिथ्यात्व किं वा भोगवती बुद्धि से ग्रस्त जो दुष्ट मनुष्य होते हैं वे विद्या का उपयोग विवाद में, धन का उपयोग अहंकार में तथा शक्ति का उपयोग दूसरों को पीड़ा देने में करते हैं।

इन्द्रिय ज्ञान एवं बुद्धिज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण है–विवेकज्ञान। विवेकज्ञान से ही भोगवती एवं विवेकवती बुद्धि का भेद ज्ञात होता है। यह बुद्धि से अतीत का ज्ञान है। इसे ही आत्मज्ञान या वास्तविक ज्ञान कहा जा सकता है। जैन शब्दावली में यह श्रुतज्ञान का ही एक रूप है। जो इस ज्ञान का उपयोग करता है वह इन्द्रियज्ञान एवं बुद्धिज्ञान से अप्रभावित रहकर उनका सदुपयोग कर सकता है। जिसका विवेकज्ञान जितना अधिक प्रकाशित होता है वह उतना ही सन्तुष्ट, आनन्दित एवं सत्पथ पर अग्रसर होता है। **(जनवरी, 2000)**

स्वर्ग–नरक

स्वर्ग एवं नरक का वर्णन जैन, बौद्ध एवं हिन्दू धर्मग्रन्थों में सहज उपलब्ध है। ईसाई धर्म में इन्हें हैवन (Heaven) और हेल (Hell) शब्दों से तथा मुस्लिम धर्म में जन्नत और जहन्नुम शब्दों से वर्णित किया गया है। कहा जाता है कि घोर पाप करने वाले को नरक तथा बृहद् स्तर पर पुण्य अर्जित करने वाले को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। मीमांसादर्शन में तो स्वर्ग की प्राप्ति के लिये अग्निष्टोम यज्ञ करने की प्रेरणा की गई है।

जैनधर्म में नरक के सात प्रकार हैं– घम्मा, वंसा, सीला, अंजणा, रिट्ठा, मघा और माघवई। इन्हें अन्य नामों से भी कहा गया है– रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुका-प्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा, तमतम-प्रभा। लोक का लगभग आधा भाग तो नरक में ही रुका है। नरक में घोर कष्ट है। वहाँ की आयुष्य न्यूनतम 10 हजार वर्ष है तथा अधिकतम 33 सागरोपम है। वहाँ पर तीन प्रकार की वेदनाएँ हैं– 1. परमाधामी देवों द्वारा दी जाने वाली वेदनाएँ 2. क्षेत्रकृत वेदनाएँ 3. नारकी जीवों द्वारा परस्पर दी जाने वाली वेदनाएँ।

- **घोर पाप करने वाले को नरक तथा बृहद् स्तर पर पुण्य अर्जित करने वाले को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।**
- **देवों एवं नारकों को चक्षुगोचर करना दुष्कर है, अतः श्रद्धा ही एकमात्र कारण है जिसके आधार पर हम स्वर्ग एवं नरक को स्वीकार कर सकते हैं।**
- **स्वर्ग एवं नरक को सिद्ध करने में दूसरा आधार है– कर्म सिद्धान्त।**
- **स्वर्ग–नरक का विवेचन मनुष्य के नैतिक बल एवं सदाचरण को पुष्ट करने के साथ धर्म में आस्था उत्पन्न करता है। यह मनुष्य के व्यवहार को नियन्त्रित करने के साथ उसकी सोच को भी बदलता है।**
- **स्वर्ग एवं नरक की प्राप्ति हमारे वर्तमान जीवन के शुभाशुभ विचारों एवं सद्–असद् व्यवहार पर निर्भर करती है।**

स्वर्ग अर्थात् देवलोक भी अत्यन्त विस्तृत है। 14 राजु लोक में से आधा भाग तो देवलोक से घिरा हुआ है। देव भी मुख्य रूप से चार प्रकार के हैं- भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। भवनपति देवों का निवास अधोलोक में है। ये नारकी जीवों को यन्त्रणाएँ देते हैं। वाणव्यन्तर देव तिर्यक्लोक में जहाँ मनुष्य एवं तिर्यंच हैं वहाँ भ्रमण करते हैं। ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के हैं- ग्रह, नक्षत्र, तारा, चन्द्र और सूर्य। वैमानिक देव के 12 देवलोक हैं, फिर नौ लोकांतिक, नवग्रैवेयक एवं पाँच अनुत्तर विमान हैं। देवों के साथ देवियों एवं देवेन्द्रों का भी वर्णन जैन साहित्य में विस्तृत रूप से प्राप्त होता है।

बौद्ध साहित्य में भी स्वर्ग-नरक का वर्णन है। हिन्दू पुराणों में भी यह वर्णन कुछ भिन्न प्रकार से प्राप्त होता है।

स्वर्ग एवं नरक को हम चर्मचक्षुओं से नहीं देख सकते। यदि कोई विमान भी लेकर जाए तो देवों को पहचानना कठिन है, क्योंकि वे वैक्रिय शरीरधारी हैं। वे अपना रूप एवं आकार भी बदल सकते हैं। नारकी जीव अधोलोक में हैं, वहाँ हमारा जाना नहीं होता है। यदि चले भी जाएँ तो वे भी वैक्रियशरीरधारी हैं। वैक्रियशरीर में हाड़-माँस-रक्त आदि नहीं होते, आकार भी स्थिर नहीं होता। कभी बड़ा कभी छोटा रूप बनाया जा सकता है।

प्रश्न यह है कि आज की शिक्षित एवं वैज्ञानिक पीढ़ी को यह कैसे विश्वास

- **घोर आरम्भ (हिंसा) एवं परिग्रह को नरकायु का कारण बताया गया है तथा सराग संयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप को देवगति (स्वर्ग) का कारण मान्य किया गया है।**
- **जो लोग स्वर्ग एवं नरक में आस्था नहीं रखते, उनके लिए ज्ञानीजन इस मनुष्य जीवन के सुखद एवं दुःखद प्रसंगों से स्वर्ग-नरक का चित्रण करते हैं।**
- **कुछ मनुष्य अपने सद्चिन्तन, सदाचरण एवं वैभव के कारण इस जीवन में ही स्वर्ग-सदृश सुख की अनुभूति करते हैं।**
- **स्वर्ग के सुख भी वैषयिक सुख हैं, अतः उनके प्रति आकर्षित होकर धर्म का आचरण विज्ञजनों के लिए समीचीन नहीं कहा जा सकता।**
- **जो दूसरों का बुरा सोचते हैं, सांसारिक वासनाओं एवं बहु आरम्भ एवं परिग्रह के दलदल में फँसे हुए हैं, वे न चाहते हुए भी इस जीवन में दुःखों को भोगते हैं, यह नरक का यत्किंचित् अनुभव है।**
- **अपराध का अन्त दुःखों में ही होता है।**

दिलाया जाए कि स्वर्ग एवं नरक हैं तथा इनमें रहने वाले देव, देवी एवं नारक जीव भी होते हैं। यह वस्तुतः कठिन कार्य है, देवों एवं नारकों को चक्षुगोचर करना दुष्कर है, अतः श्रद्धा ही एकमात्र कारण है जिसके आधार पर हम स्वर्ग एवं नरक को स्वीकार कर सकते हैं। आगमों में प्राप्त विवेचन ही स्वर्ग-नरक की सिद्धि में निमित्त बनता है।

स्वर्ग एवं नरक को सिद्ध करने में दूसरा आधार है- कर्म सिद्धान्त। कर्म सिद्धान्त का यह नियम है कि जो जैसा शुभाशुभ कर्म करता है उसको तदनुरूप फल की प्राप्ति होती है। कर्मसिद्धान्त में चार गतियाँ एवं चार आयुष्य मान्य हैं- 1. नरक 2. तिर्यंच 3. मनुष्य और 4. देव। यथायोग्य गति नामकर्म एवं आयुष्य नामकर्म का बंधन होने पर नरकादि की प्राप्ति होती है। गतिनामकर्म तो जीवन में अनेक बार बंधता रहता है, किन्तु आयु नामकर्म का बंधन एक बार होता है, जिसे तदनुरूप नरकादि आयु को प्राप्त करके ही भोगा जा सकता है। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त से पुनर्जन्म की भी पुष्टि होती है तथा नरक एवं स्वर्ग (देवलोक) की भी।

जैन कर्म-सिद्धान्त तो इतना व्यापक एवं सुव्यवस्थित है कि इसमें यह भी चिन्तन किया गया है कि कौनसा जीव नरक में जा सकता है तथा कौनसा स्वर्ग में। जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार नरक से कोई भी नारकी मरण को प्राप्त कर स्वर्ग का देव नहीं बनता तथा इसी प्रकार स्वर्ग का देव मृत्यु (च्यवन) को प्राप्त होकर नरक में नहीं जाता। किस नारकी जीव के कितनी लेश्या हो सकती है तथा किस देव के कितनी; इसका भी जैन कर्म-सिद्धान्त में स्पष्ट विधान है। विभिन्न द्वारों के माध्यम से नरकादि का विशद निरूपण हुआ है। यह भी प्रतिपादन है कि स्वर्ग का कौनसा देव सम्यक्त्वी हो सकता है तथा नरक का कौनसा नारकी? इस प्रकार विविध सूचनाओं से स्वर्ग एवं नरक की सिद्धि होती है।

वैज्ञानिकों के लिए यह अभी अन्वेषण का विषय है। बुद्धिवादियों को भी इस पर विश्वास कराना सरल नहीं है। किन्तु **राजप्रश्नीय सूत्र** में राजा प्रदेशी की शंकाओं का समाधान करते हुए केशीकुमार श्रमण ने जीव के पुनर्जन्म के साथ स्वर्ग एवं नरक की भी सिद्धि की है। वहाँ यह भी बताया गया है कि स्वर्ग के देव हमें आकर इसलिए नहीं समझाते, क्योंकि दिव्य कामभोगों के कारण मानवीय भोग उन्हें आकर्षित नहीं कर पाते। वे उन भोगों में ही तल्लीन हो जाते हैं। वे यदि मनुष्यलोक में आने की सोचते भी हैं तो आने की फुर्सत नहीं होती तथा तब तक अल्पायुष्य वाला मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाता है। एक कारण यह भी है कि मनुष्यलोक उन्हें दुर्गन्धमय प्रतीत होता है। अब प्रश्न होता है कि नरक के नारकी मनुष्यलोक में हमें

वहाँ के दुःखों से अवगत कराने क्यों नहीं आते हैं? इसका उत्तर भी राजप्रश्नीय सूत्र में दिया गया है कि नारकी जीव तो तीव्र वेदना से दुःखी होने के कारण शीघ्र ही मनुष्यलोक में आना चाहते हैं, किन्तु असातावेदनीय कर्म के क्षय नहीं होने, अननुभूत एवं अनिर्जीर्ण होने से वे वहाँ से आने में समर्थ नहीं हैं।

विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद में सातवें गणधर मौर्यपुत्र जी के देवविषयक संदेह का तथा आठवें गणधर अकम्पितजी के नारक विषयक संदेह का तीर्थंकर महावीर द्वारा निराकरण करते हुए देव एवं नारक की सिद्धि की गई है।

वेदों में पृथ्वी, अप्, वायु, अग्नि, सूर्य, उषस्, पर्जन्य, इन्द्र आदि को देवता के रूप में वर्णित किया गया है। वहाँ मंत्र का विवेच्य विषय 'देवता' कहा गया है। सभी प्राकृतिक तत्त्वों को वहाँ देवता के रूप में निरूपित किया गया है।

स्वर्ग-नरक का विवेचन मनुष्य के नैतिक बल एवं सदाचरण को पुष्ट करने के साथ धर्म में आस्था उत्पन्न करता है। यह मनुष्य के व्यवहार को नियन्त्रित करने के साथ उसकी सोच को भी बदलता है। स्वर्ग एवं नरक की प्राप्ति हमारे वर्तमान जीवन के शुभाशुभ विचारों एवं सद्-असद् व्यवहार पर निर्भर करती है। घोर आरम्भ (हिंसा) एवं परिग्रह को नरकायु का कारण बताया गया है तथा सराग संयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप को देवगति (स्वर्ग) का कारण मान्य किया गया है। जीवन का दो तिहाई भाग कैसा व्यतीत हुआ है, उसके अनुसार नये आयुष्य कर्म का बंध होता है। इसलिए व्यक्ति को सदा अशुभ से शुभ की ओर ही गमन करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

विवेकीजनों को तो धर्म एवं सदाचरण की महत्ता इस जीवन के आधार पर भी समझ में आती है, किन्तु स्थूलमति के लोगों को नरक के दुःखों का वर्णन करके ही पापाचरण से विरत किया जा सकता है। किन्तु कुछ लोग स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति के प्रलोभन से धर्माचरण करते हैं, जिसे आध्यात्मिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। आध्यात्मिक दृष्टि से तो व्यक्ति के मन में स्वर्ग के सुखों के प्रति कोई आकर्षण नहीं होना चाहिए। तात्त्विक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से तो जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा या कहें कि दुःखों से आत्यन्तिक मुक्ति ही अभीष्ट होनी चाहिए। स्वर्ग के सुख भी वैषयिक सुख हैं, अतः उनके प्रति आकर्षित होकर धर्म का आचरण विज्ञजनों के लिए समीचीन नहीं कहा जा सकता। हाँ, जब एक-दो भव करके मोक्ष-प्राप्ति होने वाली हो और जीव को अपने आयुष्य के बंधन के अनुसार स्वर्ग में देव बनना पड़े तो वह अलग बात है।

जो लोग स्वर्ग एवं नरक में आस्था नहीं रखते, उनके लिए ज्ञानीजन इस मनुष्य जीवन के सुखद एवं दुःखद प्रसंगों से स्वर्ग–नरक का चित्रण करते हैं। वे कहते हैं– इस जीवन में ही स्वर्ग एवं नरक का अनुभव किया जा सकता है। इस जीवन में भी कई मनुष्य आंशिक रूप से नारकीय यातनाओं का अनुभव करते हैं तथा कुछ मनुष्य अपने सद्चिन्तन, सदाचरण एवं वैभव के कारण इस जीवन में ही स्वर्ग–सदृश सुख की अनुभूति करते हैं। जो मानव तीव्र आसक्ति एवं अविद्या के कारण प्रतिदिन कलह करते हैं, दूसरों का बुरा सोचते हैं, सांसारिक वासनाओं एवं बहु आरम्भ एवं परिग्रह के दलदल में फँसे हुए हैं, वे न चाहते हुए भी इस जीवन में दुःखों को भोगते हैं, यह नरक का यत्किञ्चित् अनुभव है। दूसरी ओर जो मनुष्य स्वार्थ से ऊपर उठकर दूसरों का भी भला सोचते हैं, दूसरों को भी आत्मवत् समझते हैं, उनको पीड़ा न हो, इसका ध्यान रखते हैं, आरम्भ एवं परिग्रह में नहीं फँसते हैं, सदैव प्रसन्नता से पूरित रहते हैं, वे इस जीवन में भी स्वर्ग–सदृश अथवा उससे भी बेहतर सुख का अनुभव करते हैं।

स्वर्ग एवं नरक हैं यह आस्था का विषय है। जो इसे स्वीकार करता है उसके आचरण में सुधार अवश्य संभावित है– यह इस आस्था का सकारात्मक पहलू है। यह सुधार यद्यपि नरक के भय एवं स्वर्ग के प्रलोभन से जुड़ा हुआ है, तथापि साधारणतः भय एवं प्रलोभन मनुष्य के व्यवहार के नियामक होते हैं। इसलिए जनसाधारण के व्यवहार को नियन्त्रित करने में नरक का भय एवं स्वर्ग का प्रलोभन अवश्य ही सहायक होता है। आस्थावादी तो भय एवं प्रलोभन से भी पटरी पर आ जाता है, किन्तु जो स्वर्ग एवं नरक को नहीं मानते, स्वयं के विवेक से भी व्यवहार को नियन्त्रित नहीं करते, उन उच्छृंखलतावादियों का क्या होगा? उनका व्यवहार अपराध से ओतप्रोत होने लगता है, वे स्वार्थपूर्ति एवं वैषयिक लिप्सा के कारण दूसरों को कोई महत्त्व नहीं देते और अपराध पर उतर आते हैं। ऐसे अपराधी न्याय–व्यवस्था के दण्ड से भी नहीं डरते तथा समाज में भय एवं आतंक को जन्म देकर समाज–कटंक का रूप ग्रहण कर लेते हैं। उनको दिशा देने वाला कौन है, संतों की प्रेममयी वाणी ही उनको दिशा दे सकती है कि अपराध का अन्त दुःखों में ही होता है। वे जरूर उसके फल में नरक या नीच गति की वेदना पायेंगे। इसलिए नरक–स्वर्ग में आस्था रखकर अपने को नियन्त्रित कर लेने में ही अपना हित है। **(जून, 2006)**

धर्म की भयावहता

धर्म के दो रूप हैं–पहला क्रियाकाण्डात्मक और दूसरा आन्तरिक निर्मल वृत्त्यात्मक। इनमें धर्म का वास्तविक रूप तो आन्तरिक निर्मलवृत्ति से ही जुड़ा हुआ है, किन्तु उसकी उपलब्धि के लिए बाह्य क्रियाओं को भी साधन माना जाता है। बाह्य क्रियाएँ आन्तरिक शुद्धि का फल तब प्रदान करती हैं जब वे ज्ञानपूर्वक की गई हों। अज्ञानात्मक एवं अन्धश्रद्धायुक्त धर्म की बाह्य प्रवृत्तियों से कोई विशेष लाभ नहीं होता। कई बार तो धर्म एवं अधर्म में भेदक रेखा खींचना भी अत्यन्त कठिन होता है। ऐसी स्थिति में धर्म कब अधर्म का भयावह रूप ग्रहण कर ले, कुछ कहा नहीं जा सकता। धर्म का उपयोग जब मनुष्य में रहे हुए राग एवं द्वेष को उकसाने में किया जाता है तो वही धर्म 'अधर्म' का रूप ग्रहण कर लेता है।

राग का परिष्कृत रूप श्रद्धा है। श्रद्धा कब राग बन जाए, इसे पहचानना स्वयं के लिए भी कठिन है। धर्म का कार्य राग को श्रद्धा में बदलना है, अन्ध-श्रद्धा या उकसाने वाले कार्यों को प्रोत्साहित करने में नहीं।

विश्व में अनेक ऐसे धर्म हैं जो मनुष्य में रहे हुए रागद्वेष को, अपने धर्म के प्रति आसक्ति में एवं अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति घृणा एवं द्वेष में बदलते रहते हैं।

- **धर्म का कार्य राग को श्रद्धा में बदलना है, अन्ध-श्रद्धा या उकसाने वाले कार्यों को प्रोत्साहित करने में नहीं।**
- **विश्व में अनेक ऐसे धर्म हैं जो मनुष्य में रहे हुए रागद्वेष को, अपने धर्म के प्रति आसक्ति में एवं अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति घृणा एवं द्वेष में बदलते रहते हैं।**
- **धर्म कब अधर्म का भयावह रूप ग्रहण कर ले, कुछ कहा नहीं जा सकता।**

- **क्रियोद्धार की चेतना सदैव अपेक्षित है।**
- **बाह्य आचरण भी आध्यात्मिक ज्ञान के रस के बिना अधिक फलदायी नहीं होता। उससे बाह्य आचरण का झूठा अभिमान जन्म ले लेता है, जो दूसरों के साथ संघर्ष को जन्म देता है।**

मनुष्य को इस कार्य में धर्म नेताओं एवं सहधार्मिकों का भी सम्बल मिल जाता है। धार्मिकों की यह प्रवृत्ति दो धर्मोके बीच संघर्ष को जन्म देती है। विश्वपटल पर हो रहे संघर्षों को भी इस रूप में देखा जा सकता है। संघर्ष का कारण अर्थ, अनीति, राजनीति, काम आदि हों, तो बात समझ में आती है, किन्तु धर्म ही पारस्परिक संघर्ष एवं तनाव का कारण बन जाए तो फिर उस संघर्ष से तारने वाला कौन होगा ?

जितने भी धर्म हैं, वे स्थूल रूप में सामाजिक स्तर पर भाईचारे एवं मैत्रीभाव की बात कहते हैं, वैर-विरोध को भूलकर क्षमा का पाठ पढ़ाते हैं, किन्तु तथाकथित धार्मिकों में धर्म का वास्तविक तत्त्व सम्यक्रूपेण प्रवेश नहीं कर पाता और वे धर्म से हुए तात्कालिक लाभों के कारण उसके प्रति राग कर बैठते हैं। यह राग उन्हें तो अच्छा लगता ही है, किन्तु धर्म-पुरोधाओं को भी यह बहुत भाता है। इसके साथ ही शुरू होती है अन्य धर्मावलम्बियों के साथ संघर्ष की कहानी। कई देशों में धार्मिकों का शासन है। वहाँ धर्म के नाम पर कितना अधर्म होता है, यह किसी से छिपा नहीं है।

धर्म कोई भी हो, विकृतियाँ सबमें आ सकती हैं। विकृतियों के आते ही धर्म में अधर्म का प्रवेश प्रारम्भ हो जाता है। धर्म का उपदेश देने वाले कई सन्त, महात्मा स्वयं ऐशो-आराम का जीवन व्यतीत करते हैं, वे भोली जनता को किस प्रकार ठगते हैं, यह भोली जनता रागवश नहीं समझ पाती। श्रद्धा राग का रूप ले लेती है। जैन धर्म में भी ऐसे प्रसंग आये हैं, इसलिए जैन संतों एवं आचार्यो ने बार-बार क्रियोद्धार किए हैं। उन क्रियोद्धारों का ही फल है कि जैन सन्त आज भी पाद विहारी हैं एवं अपेक्षाकृत संयमी जीवन जीते हैं।

क्रियोद्धार की चेतना सदैव अपेक्षित है। आचार्य, संघ-प्रमुख, अनुशास्ता आदि ही इस चेतना के प्रमुख स्रोत होते हैं। उनकी

- **रागद्वेष की ग्रंथि को तोड़ने के लिए धर्म है, किन्तु जब धर्म के बाह्य आडम्बर द्वारा रागद्वेष को उकसाया एवं पनपाया जाता है तो वह धर्म भयावह बन जाता है।**
- **जब तक कोई भी धर्म या सम्प्रदाय अपने ही धर्म एवं सम्प्रदाय को मानने वाले को सम्यक्त्वी एवं शेष सबको मिथ्यात्वी मानता रहेगा तब तक संघर्ष, घृणा, द्वेष एवं राग का अन्त आने वाला नहीं है।**
- **जो धर्म मानव की भीतरी शुद्धि करता है वही धर्म इस संसार में ग्राह्य है और इस ओर जो सन्त एवं महापुरुष प्रवृत्त हैं वे ही पूज्य हैं।**
- **आवश्यकता है धर्म के सही रूप को प्रस्तुत कर व्यक्ति की चेतना को शुद्ध करने की।**

सजगता से ही साधु-साध्वियों की चर्या इस प्रकार की होती है कि वे स्वयं धर्माचरण कर अन्यों/गृहस्थों को भी प्रेरणा दे पाते हैं।

एक बात यहाँ पर ध्यातव्य है कि कोरा बाह्य आचरण भी आध्यात्मिक ज्ञान के रस के बिना अधिक फलदायी नहीं होता। उससे बाह्य आचरण का झूठा अभिमान जन्म ले लेता है, जो दूसरों के साथ संघर्ष को जन्म देता है। जिनमें ज्ञानपूर्वक आचरण है, वहाँ संघर्ष नहीं हो सकता। वहाँ वैर-विरोध भी धराशायी हो जाते हैं। ज्ञान भी जैन दर्शन में 'ज्ञान' तब कहा जाता है, जब दर्शन अर्थात् दृष्टि सम्यक् हो। दृष्टि की सम्यक्ता भी तब बनती है जब आत्मिक निर्मलता हो, अनन्तानुबंधी कषायचतुष्क का क्षय, उपशम या क्षयोपशम हो। दर्शनमोह का भी नाश आवश्यक है। सम्यग्दर्शन की यह व्याख्या भले ही जैन दर्शन में उपलब्ध हो, किन्तु यह सर्वत्र लागू होने से सार्वत्रिक है। किसी भी धर्म-दर्शन को मानने वाला क्यों न हो, वह दृष्टि की निर्मलता एवं कषाय क्षय के बल पर सम्यग्दृष्टि बन सकता है।

जब तक कोई भी धर्म या सम्प्रदाय अपने ही धर्म एवं सम्प्रदाय को मानने वाले को सम्यक्त्वी एवं शेष सबको मिथ्यात्वी मानता रहेगा तब तक संघर्ष, घृणा, द्वेष एवं राग का अन्त आने वाला नहीं है। तब वह धर्म एवं सम्प्रदाय एक सांसारिक परिवार मात्र ही होगा, आकार बड़ा या छोटा हो सकता है। बहुत कठिन है यह जानना कि भीतर में सम्यक्त्व आया या नहीं, किन्तु जैन धर्म में पाँच लक्षण बताये हैं-1. शम 2.संवेग 3.निर्वेद 4.अनुकम्पा और 5.आस्था अथवा आस्तिक्य। ये पाँचों व्यावहारिक लक्षण हैं जो 1. कषाय की प्रशमता एवं समता 2. वीतरागता के प्रति उत्साह 3. विषय भोगों से विरति 4. दुःखियों के प्रति अनुकम्पा 5. वीतरागियों के वचन पर आस्था एवं प्राणिमात्र के प्रति आस्तिक्य के द्योतक हैं। प्राणी में इन्हें देखकर सम्यक्त्व का एवं नहीं देखकर मिथ्यात्व का बोध किया जा सकता है।

जो धर्म मानव की भीतरी शुद्धि करता है वही धर्म इस संसार में ग्राह्य है और इस ओर जो सन्त एवं महापुरुष प्रवृत्त हैं वे ही पूज्य हैं, इसमें सन्देह नहीं। धार्मिकों का बाह्य प्रलोभन भी कई बार मानव को आकृष्ट करता है, और वह अपनी अभिलाषा पूर्ति के कारण उस ओर प्रवृत्त होता है, किन्तु जब तक उसे भीतरी शुद्धि से नहीं जोड़ा जायेगा, तब तक वह धर्म के सही रूप से वंचित ही रहेगा। इसलिए आवश्यकता है धर्म के सही रूप को प्रस्तुत कर व्यक्ति की चेतना को शुद्ध करने की।

बात धर्म एवं अधर्म की भेद रेखा से प्रारम्भ हुई थी। यह रेखा व्यक्ति के अन्तःकरण में कब एवं कहाँ खिंचती है, इसे वह स्वयं ही जान सकता है। इसीलिए

जैनधर्म में दृष्टि के सम्यक् होने को महत्त्व दिया गया है। जब तक दृष्टि सम्यक् न हो तब तक स्वयं का अधर्म भी धर्म जैसा प्रतीत होता है। धर्म का सच्चा प्रारम्भ तो सम्यक् दृष्टि आने पर ही होता है। वह फिर काम,लोभ, मान, यश आदि की पूर्ति को लक्ष्य नहीं बनाता, वह तो आत्मनिर्मलता, समता, शान्ति एवं निर्वाण को ही लक्ष्य रखता है। यदि ऐसा होता है तो फिर धार्मिकों के मध्य न घृणा होती है और न द्वेष। राग भी छूटता है, किन्तु सत्य धर्म पर श्रद्धा बलवती होती जाती है।

रागद्वेष की ग्रंथि को तोड़ने के लिए धर्म है, किन्तु जब धर्म के बाह्य आडम्बर द्वारा रागद्वेष को उकसाया एवं पनपाया जाता है तो वह धर्म भयावह बन जाता है, क्योंकि वह मानव का कल्याण नहीं करके पारस्परिक संघर्ष एवं टकराव को जन्म देता है, जिसे 'सभ्यताओं का संघर्ष' जैसा नाम भी (अमेरिका द्वारा) दिया गया है। **(दिसम्बर, 2001)**

मनोनियन्त्रण

श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना एवं स्पर्शन इन पाँच इन्द्रियों की ज्ञानशक्ति एवं भोगशक्ति से हम परिचित हैं, किन्तु मन की शक्ति इन सबसे बढ़कर है। 'मन' इन पाँचों इन्द्रियों के साथ लगकर भी कार्य करता है तथा स्वतन्त्र रूप से भी कार्य करता है। वह बुद्धि के साथ भी कार्य करता है तथा भावनाओं, संकल्प-विकल्प या कल्पनाओं में भी मन का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। मन के बिना स्वप्नों की दुनिया सम्भव नहीं। शयन के समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भले ही विश्राम करें, किन्तु मन उस समय भी कार्य करता है। मन का अचेतन स्तर उस समय भी कार्यरत रहता है। मन हमारी इच्छाओं, अनिच्छाओं का संवाहक है। इसे भारतीय वाङ्मय में 'करण' अर्थात् साधन कहा गया है। यह जीव के लिए करण है। वह इसका सदुपयोग या दुरुपयोग कर उन्नति या अवनति को प्राप्त कर सकता है।

इस बात का अनुभव प्रायः सबको होता है कि मन को वश में करना या नियन्त्रित करना अत्यधिक कठिन है। यह बात आज की ही नहीं, प्राचीन काल से चली आ रही है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है- **मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ।** (उत्तरा. 23.58)

मन साहसी और भयंकर दुष्ट अश्व की भांति चारों ओर दौड़ता रहता है। भगवद्गीता में कहा है- **'चंचलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद् दृढं।'**

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा- ''हे

- **मन हमारी इच्छाओं, अनिच्छाओं का संवाहक है। इसे भारतीय वाङ्मय में 'करण' अर्थात् साधन कहा गया है।**
- **'मन' पाँचों इन्द्रियों के साथ लगकर भी कार्य करता है तथा स्वतन्त्र रूप से भी कार्य करता है।**
- **मनोवैज्ञानिकों ने मन के तीन स्तर बताए हैं- चेतन मन, अचेतन मन और अवचेतन मन।**
- **मन को मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने भोगेच्छुक मन (Id), अहंकारी मन (Ego) और नियामक मन (Super ego) के रूप में भी समझाया है।**

कृष्ण! यह मन चंचल है, प्रमाथि, बलवान और दृढ़ है।''

मन की चंचलता का अनुभव उन्हें होता है जो मन को नियन्त्रित करना चाहते हैं या मन की क्रियाओं का प्रेक्षण करते हैं। उन्हें मन की चंचलता का कोई बोध नहीं जो मन के अनुसार चलते हैं।

मनोवैज्ञानिकों ने मन के तीन स्तर बताए हैं- चेतन मन, अचेतन मन और अवचेतन मन। चेतन मन वह है जो जागृत अवस्था में कार्य करता है तथा उसके कार्य हमारी जानकारी में होते हैं। अचेतन मन सुप्त मन है तथा सम्पूर्ण मन का 95 प्रतिशत से अधिक भाग अचेतन मन के रूप में होता है। जिसके कार्य स्वप्न, सुषुप्ति या अज्ञात अवस्था में स्वतः होते रहते हैं। यह मूल-प्रवृत्तियों एवं वासनाओं से युक्त होता है। अनेक दमित इच्छाएँ अचेतन मन में निवास करती हैं। अवचेतन मन चेतन से अचेतन मन में जाने या अचेतन से चेतन मन में आने की अवस्था है। इसे अर्द्धचेतन मन भी कहा जाता है। मन को मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने भोगेच्छुक मन (Id), अहंकारी मन (Ego) और नियामक मन (Super ego) के रूप में भी समझाया है।

मन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं जीव के आत्मिक भाव। जैन दर्शन में पाँच प्रकार के भावों का निरूपण है- क्षायिक भाव, औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव, औदयिक भाव और पारिणामिक भाव। जो जीव जिस प्रकार के भाव में जीता है, उसका मन उसी प्रकार से कार्य करता है। क्षायिक भाव वाले जीव का मन अत्यन्त निर्मल होता है। उसके अचेतन मन में भी गहरी ग्रन्थि नहीं होती है। औपशमिक भाव

- **मन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं जीव के आत्मिक भाव।**
- **जैनदर्शन में मन को पुद्‌गलों से निर्मित द्रव्य माना गया है, जो शुभाशुभ भावों की अभिव्यक्ति का भी साधन बनता है।**
- **मनो-नियन्त्रण की विधियाँ:- ध्यान की विधि, असहयोग की विधि और जप, स्वाध्याय आदि का प्रयोग।**
- **मन को ज्ञान द्वारा निगृहीत किया जा सकता है।**
- **असीमित वासनाओं, इच्छाओं को भी संयम के माध्यम से सीमित करें तो मन के नियन्त्रण की समस्या नहीं रह जाएगी।**
- **मन का हम विरोध करना छोड़ दें, सत्प्रवृत्ति व सच्चिन्तन में रस लेने लगें तो मन स्वतः उसमें जुड़ जायेगा।**
- **मन को समझाना एवं नियन्त्रित करना कठिन नहीं है, वह तो करण है। हम ही उसे बुरा-भला बनाते हैं।**

वाले व्यक्ति का चेतन मन भले ही निर्मल प्रतीत हो, किन्तु उसके अचेतन मन में दमित वासनाएँ विद्यमान रहती हैं जो अवसर आने पर पुनः प्रकट होती हैं। क्षायोपशमिक भाव में व्यक्ति आंशिक रूप से निर्मल होता है। औदयिक भाव तो प्राणी के गति, कषाय, लिंग, लेश्या आदि उदय में प्राप्त भावों का सूचक है। पारिणामिक भाव भव्यत्व, अभव्यत्व, जीवत्व आदि के रूप में परिभाषित किया जाता है।

जैनदर्शन में मन को पुद्गलों से निर्मित द्रव्य माना गया है, जो शुभाशुभ भावों की अभिव्यक्ति का भी साधन बनता है। मनुष्य के संदर्भ में विचार करें तो मन तो एक करण या साधन मात्र है, उसमें हमारे द्वारा पूर्वसंचित कर्म संस्कार या भावों की अभिव्यक्ति होती है। मन तो वहाँ ही जाता है जहाँ हमारी समस्या होती है। 'मन' एक हठाग्रही बालक की तरह है, जिसे मना करने पर भी वह नहीं मानता, बल्कि जिस कार्य के लिए मना करते हैं, उसे अवश्य करता है। मनुष्य यदि अपने भावों को निर्मल बना ले तो अचेतन मन में भरी पड़ी वासनाएँ भी विगलित होते देर न लगे।

मन को नियन्त्रित करना कठिन अवश्य है, किन्तु असंभव नहीं है। मनो-नियन्त्रण की कुछ विधियाँ इस प्रकार हैं-

1. **ध्यान की विधि-** ध्यान में मन एकाग्र होता है। जब वह इधर-उधर जाने लगे तो द्रष्टाभाव से देखने वाले की पकड़ में आ जाता है।
2. **असहयोग की विधि-** मन को कभी भी बलात् नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। मन यदि कहीं इधर-उधर जाता है तो उसका न तो विरोध किया जाए और न सहयोग ही। विरोध करने का प्रभाव विपरीत होता है, विरोध से मन वश में नहीं आता, बल्कि व्यक्ति का विवेक कुंठित होने लगता है। गलत कार्यों में मन का सहयोग करना तो विनाश का सूचक ही है।
3. **जप, स्वाध्याय आदि का प्रयोग-** मन को उस समस्या से हटाकर अन्यत्र जप, स्वाध्याय आदि या अन्य रुचिकर, किन्तु अहानिकारक विषय की ओर ले जाना भी लाभप्रद हो सकता है।

उपर्युक्त विधियाँ अस्थायी रूप से मन को नियन्त्रित करने में सहायक हैं, मन को स्थायी रूप से नियन्त्रित करने के लिए धर्मशिक्षा, सम्यग्ज्ञान, विवेक आदि उपयोगी सिद्ध होते हैं।

(1) **धर्मशिक्षा से-** उत्तराध्ययन सूत्र (23.58) में केशी श्रमण के प्रश्न का समाधान करते हुए गौतमस्वामी ने कहा है- **'तं सम्मं तु निगिण्हामि धम्म-**

सिक्खाइ कंथगं।'

अर्थात् मैं मन रूप घोड़े को धर्मशिक्षा से सम्यक् रूपेण निगृहीत कर लेता हूँ। यह धर्मशिक्षा क्या है? यह अहिंसा, संयम, तप आदि के सुसंस्कार हैं जो मन को इधर-उधर जाने से रोकते हैं। धर्मशिक्षा के माध्यम से न केवल चेतन मन निगृहीत होता है, अपितु अचेतन मन में दमित इच्छाएँ एवं वासनाएँ भी विगलित हो जाती हैं।

(2) **ज्ञान के द्वारा-** आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान में जाने वाले मन को ज्ञान द्वारा निगृहीत किया जा सकता है। जब मानव को यह बोध हो कि आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान करने से हानि ही है, कोई लाभ नहीं, तो वह धीरे-धीरे आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान से बचकर धर्मध्यान की ओर आकृष्ट होगा- **णाणेण ज्झाण-सिद्धि।**

(3) **विवेक एवं यतना द्वारा-** ज्ञान का एक रूप है विवेक। विवेक का ही क्रियात्मक रूप है यतना। विवेक एवं यतना में जीने वाला व्यक्ति मन को अधिक काल के लिए नियन्त्रित कर लेता है। वह उसका दुश्चिन्तन में दुरुपयोग न करके सच्चिन्तन में सदुपयोग करता है।

मन का हम विरोध करना छोड़ दें, सत्प्रवृत्ति व सच्चिन्तन में रस लेने लगें तो मन स्वतः उसमें जुड़ जायेगा। मन से हम हार न मानकर विवेक/ज्ञान की लगाम से उसे नियन्त्रित करें, साथ ही हमारी असीमित वासनाओं, इच्छाओं को भी संयम के माध्यम से सीमित करें तो मन के नियन्त्रण की समस्या नहीं रह जाएगी। मन को समझाना एवं नियन्त्रित करना कठिन नहीं है, वह तो करण है। हम ही उसे बुरा-भला बनाते हैं। जो अपने को मन का नियन्ता बना लेता है, मन उसके अधीन रहता है तथा जो मन से नियन्त्रित होता है, मन उसका नियन्ता बन जाता है। **(मार्च, 2004)**

जिह्वा–लोलुपता और तप

इसमें कोई दो मत नहीं कि जीवन जीने के लिए आहार आवश्यक है। आहार के बिना सामान्य जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। आहार चार प्रकार के हैं– 1. अशन, 2.पान, 3.खादिम, 4.स्वादिम। अशन में अन्न, दाल, सब्जी, चावल, नमक, चीनी, घी आदि सभी खाद्य–पदार्थों एवं दूध, चाय, काफी, शिकंजी, शीतलपेय आदि सभी पेय पदार्थों का समावेश हो जाता है। मुख्यतः 'अशन' से ही उदरपूर्ति होती है। दूसरे आहार 'पान' में केवल पानी (जल) को लिया जाता है। 'पानी' अपने आप में एक आहार है। तीसरा आहार 'खादिम' है, जिसमें सूखे मेवे की गणना होती है। चौथे 'स्वादिम' आहार में मुख को सुगन्धित करने वाले लोंग, सुपारी, इलायची, सोंफ, पान मसाला आदि की गणना होती है। हमारा जीवन इन चारों प्रकार के आहारों से चलता है। इनमें से दो प्रकार के आहार अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होते हैं– 1. अशन(भोजन), 2. पान(पानी)। इनके अतिरिक्त जीवन के लिए एक और आवश्यक तत्त्व है–वायु। वायु–सेवन प्रतिक्षण श्वास के माध्यम से होता रहता है। विज्ञान के अनुसार भी जीवन के लिए भोजन, जल एवं वायु(आक्सीजन) को आवश्यक बताया गया है। जीवन के

- **जिह्वा की लोलुपता मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए घातक है तथा कर्म–बन्ध का बहुत बड़ा निमित्त है।**
- **जीवन के लिए भोजन है, भोजन के लिए जीवन नहीं। शरीर में अधिकतर रोग अधिक भोजन से होते हैं, कम खाने से नहीं।**
- **आहार का अनावश्यक उपभोग आहार का दुरुपयोग है।**
- **आवश्यकता से अधिक आहार चित्त की विकृति को द्योतित करता है। शरीर एवं चित्त का घनिष्ठ सम्बन्ध है।**
- **वे धन्य हैं जो जिह्वा–लोलुपता पर विजय प्राप्त करते हैं। वे न केवल जीभ पर अपितु अपने मन पर भी विजय पाते हैं। तप–साधना की यह प्रथम सीढ़ी है।**

लिए इनका सन्तुलित सेवन ही अपेक्षित है, असन्तुलित सेवन मनुष्य को अस्वस्थ बनाता है।

आहार-सेवन करते समय 'जिह्वा' एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। इसके द्वारा हमें विभिन्न प्रकार के स्वादों का बोध होता है। स्वाद का बोध कराने के कारण इसे रसनेन्द्रिय कहते हैं। मोटे तौर पर स्वाद पाँच प्रकार के हैं- खट्टा, मीठा, कटु, कषैला और तीखा। वैशेषिक दर्शन में खारा भी एक स्वाद माना गया है। इन सबके सम्मिश्रण से फिर अनेक स्वादों की रचना होती जाती है। जिह्वा में स्वाद की ग्रन्थियाँ सम्यक् प्रकार से कार्य करें तो स्वाद से ही यह पता चल जाता है कि कौनसा पदार्थ शरीर के लिए हितकर है एवं कौनसा अहितकर। किन्तु स्वाद की ग्रन्थियों का उपयोग मनुष्य शरीर के हित के लिए नहीं, अपितु उन ग्रन्थियों से मिलने वाली उत्तेजना या भोग के लिए करने लगता है। रसनेन्द्रिय एक ज्ञानेन्द्रिय है, किन्तु मनुष्य उसे भोगेन्द्रिय के रूप में काम लेता है।

आधुनिकता के साथ इस युग में भोज्य पदार्थों एवं पेय पदार्थों का भी विकास हुआ है। कोल्ड ड्रिंक्स की सुलभता बढ़ी है। फल एवं सब्जियों की पैदावार बढ़ी है। मिठाइयों के आकार-प्रकार में नवीनता आई है। उसका असर विवाह समारोहों पर भी पड़ा है, जहाँ सभी खाद्य सामग्रियों का स्वाद लेने के पहले ही पेट भर जाता है।

- **जिह्वा की लोलुपता पर नियन्त्रण करने के लिए संयम एवं तप परम साधन हैं।**
- **अच्छा यह हो कि तपस्या (अनशन) के साथ प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, ध्यान आदि आभ्यन्तर तप का भी आराधन हो। इसी प्रकार आभ्यन्तर तप के साथ यदि बाह्य तप भी किया जाए तो तप की फल-शक्ति कई गुणी बढ़ सकती है।**
- **जिह्वा लोलुपता को कम करने के साथ सभी विकारों पर विजय का अभियान अपेक्षित है। क्योंकि जो स्वाद को जीत सकता है, स्वादलोलुप नहीं बनता, वह समस्त विषय-विकारों को जीत सकता है।**
- **प्रतिदिन द्रव्य-मर्यादा करके भी जिह्वा को नियन्त्रित किया जा सकता है।**
- **स्वाद अथवा जिह्वा-लोलुपता पर विजय प्राप्त करने के लिए अन्य तप हैं।**
- **चिकित्सक के निषेध किए बिना स्वेच्छा से यदि भोज्य पदार्थों के भोग पर हमने नियन्त्रण किया तो यह त्याग एवं तप की श्रेणि में आएगा। यही आत्मजय का मार्ग है।**

इडली, डोसा, उत्तपम आदि अनेक भोज्य पदार्थ दक्षिण से उत्तर भारत में चले आए हैं। एक देश से दूसरे देश में भी आ-जा रहे हैं। फास्ट फूड की संस्कृति का विकास हो रहा है। यह फूड शीघ्र तैयार हो जाता है, किन्तु प्रायः पौष्टिकता रहित होता है। आइसक्रीम का प्रचलन बढ़ा है, जिसमें अखाद्य सामग्री भी मिली रहती है। बच्चों में ही नहीं बड़ों में भी टाफी, केक, चाकलेट आदि का स्वाद बढ़ा है। गुटखा एवं पान-मसाला जैसी सामग्रियों ने तो मनुष्य की जीभ को अपने वश में कर लिया है।

जिह्वा की लोलुपता मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए घातक है तथा कर्म-बन्ध का बहुत बड़ा निमित्त है, तथापि यह लोलुपता निरन्तर इसलिए बढ़ती जा रही है, क्योंकि हम स्वाद के आधीन हैं। जो स्वाद हमें रुचिकर लगता है, उसे हम बार-बार भोगना चाहते हैं। इसलिए कई बार उसकी अति भी कर जाते हैं। एक पुराना सूत्र उस समय स्मृति में नहीं रहता कि "जीवन के लिए भोजन है, भोजन के लिए जीवन नहीं।" शरीर में अधिकतर रोग अधिक भोजन से होते हैं, कम खाने से नहीं। मनुष्य दिनभर में न जाने कितनी बार इस जीभ को सन्तुष्ट करता रहता है तथा उसका दास बनता रहता है।

आहार जीवन के लिए आवश्यक है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उसका अनावश्यक उपभोग आहार का दुरुपयोग है। उसका दुष्परिणाम एक ओर शरीर को रोगादि के रूप में भोगना पड़ता है तो दूसरी ओर कुछ लोग आहार-प्राप्ति से वंचित रहते हैं। आवश्यकता से अधिक आहार चित्त की विकृति को द्योतित करता है। शरीर एवं चित्त का घनिष्ठ सम्बन्ध है। चित्त में आया हुआ विकार ही मनुष्य को भोगों में प्रवृत्त करता है। साधु-साध्वियों के लिए तो मात्र संयम-यात्रा हेतु आहार कल्पता है-"**जवणट्ठाए भुंजिज्जा, न रसट्ठाए।**" स्वाद के लिए भोजन न करे, अपितु संयम-यात्रा के लिए भोजन करे।

जिह्वा की लोलुपता पर नियन्त्रण करने के लिए संयम एवं तप परम साधन हैं। भोजन की अधिकता पर नियन्त्रण संयम है। उसके लिए मन को साधना पड़ता है। मन पर संयम होगा तो रसनेन्द्रिय पर भी संयम हो सकेगा। दूसरा महत्त्वपूर्ण साधन 'तप' है। तप के 12 भेदों में प्रथम तप 'अनशन' है जो जिह्वा की लोलुपता पर सीधा नियन्त्रण करता है।

'अनशन' तप जिह्वा-विजय का उत्कृष्ट साधन है। किन्तु 'तप' के साथ संयम भी आवश्यक है और विवेक भी आवश्यक है। आजकल अनशन तप के प्रति प्रवृत्ति बढ़ी है। तप के 12 भेदों में अनशन का ही बोलबाला है। अनशन का अर्थ है-

चारों प्रकार के अथवा तीन प्रकार के (पानी को छोड़कर) आहार का त्याग। उपवास, बेला, तेला,चोला, पचोला, अठाई, मासखमण आदि तपस्याएँ इसी श्रेणी में आती हैं। नवकारसी, पौरसी, एकाशन आदि तप भी अनशन के ही रूप हैं।

वे धन्य हैं जो जिह्वा-लोलुपता पर विजय प्राप्त करते हैं। वे न केवल जीभ पर अपितु अपने मन पर भी विजय पाते हैं। तप-साधना की यह प्रथम सीढ़ी है। किन्तु क्या सभी अनशन-तपस्वी अपनी जिह्वा को जीत लेते हैं ? यह विचार का विषय है। फिर भी इस ओर जो विवेकपूर्वक तत्पर हैं वे कर्म-निर्जरा तो करते ही हैं, अपने शरीर,चित्त एवं आत्मा के रोगों में भी कमी करते हैं। अच्छा यह हो कि तपस्या (अनशन) के साथ प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, ध्यान आदि आभ्यन्तर तप का भी आराधन हो। इसी प्रकार आभ्यन्तर तप के साथ यदि बाह्य तप भी किया जाए तो तप की फल-शक्ति कई गुणी बढ़ सकती है। यदि 'अनशन' तप करते हुए भी आरम्भ एवं परिग्रह के सारे कार्य रुचिपूर्वक किए जाएँ तो वह निर्जरा का साधन नहीं बनता।

जिह्वा लोलुपता को कम करने के साथ सभी विकारों पर विजय का अभियान अपेक्षित है; क्योंकि जो स्वाद को जीत सकता है, स्वादलोलुप नहीं बनता, वह समस्त विषय-विकारों को जीत सकता है। वह अन्य इन्द्रिय-विषयों के प्रति भी लोलुपता को नियन्त्रित कर सकता है।

स्वाद अथवा जिह्वा-लोलुपता पर विजय प्राप्त करने के लिए अन्य तप हैं- ऊणोदरी (भूख से कम खाना), वृत्ति-परिसंख्यान(भोज्य पदार्थों की लालसा का त्याग), रस-परित्याग (घी, दूध, मीठा आदि विगयों का त्याग), प्रति-संलीनता (इन्द्रिय-निग्रह)। रस-परित्याग तप का एक रूप है-आयम्बिल। इसमें जिह्वा की लोलुपता पर पर्याप्त नियन्त्रण किया जाता है। प्रतिदिन द्रव्य-मर्यादा करके भी जिह्वा को नियन्त्रित किया जा सकता है। व्यक्ति प्रतिदिन इस प्रकार का नियम ले सकता है कि वह 10 द्रव्यों (वस्तुओं), 15 द्रव्यों या अमुक संख्या जितने द्रव्यों से अधिक का एक दिन में सेवन नहीं करेगा।

सावधान स्वयं को होना होगा। यदि सावधान नहीं हुआ तो दुष्परिणाम भी स्वयं को ही भोगना होगा। जो अपने को साधना चाहता है वह सबसे पहले अपनी जिह्वा को साधे। चिकित्सक के परामर्श पर तो हम अनेक भोज्य पदार्थों का त्याग कर देते हैं, किन्तु यह त्याग या तप नही हैं। चिकित्सक के निषेध किए बिना स्वेच्छा से यदि भोज्य पदार्थों के भोग पर हमने नियन्त्रण किया तो यह त्याग एवं तप की श्रेणि में आएगा। यही आत्मजय का मार्ग है।

साधना कोई भी हो, उसे प्रदर्शन के लिए नहीं, हम अपने हित के लिए अपनाएँ। दीर्घकालीन अनशन तप की सूची में नाम लिखवाने वाले अनेक मिल जायेंगे, किन्तु आत्म–जय की ओर वास्तव में वे कितने बढ़े हैं, यह उनके ही मूल्यांकन का विषय है। **(मई, 2000)**

महत्त्वाकांक्षा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहते हुए वह अपनी अलग पहचान बनाना चाहता है। उसमें यह अभिलाषा होती है कि किसी भी क्षेत्र में उसका नाम हो। वह पद, पैसा, कार्य आदि के आधार पर प्रतिष्ठित हो। नाम एवं प्रतिष्ठा की यह अभिलाषा ही व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा को जन्म देती है। सरल शब्दों में कहें तो अपनी महत्ता को स्थापित करने की आकांक्षा ही महत्त्वाकांक्षा है। यह महत्त्वाकांक्षा किसी भी क्षेत्र में हो सकती है। राजनीति, उद्योग, खेल, अभिनय, व्यापार, चिकित्सा-विज्ञान, इंजीनियरिंग, कला, साहित्य आदि सैकड़ों क्षेत्र इसकी पूर्ति के माध्यम हो सकते हैं।

महत्त्वाकांक्षा अव्यक्त हो या प्रकट, छोटी हो या बड़ी, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति में इसका अस्तित्व होता है। जो जितना अधिक बुद्धिमान एवं सक्षम होता है, उसमें उतनी ही अधिक महत्त्वाकांक्षाएं होती हैं। किन्तु देश एवं विश्व में कुछ ऐसे भी मानव हैं, जिनकी आकांक्षा मात्र दो वक्त का भोजन प्राप्त करने तक सीमित है। वे 'महत्त्व' जैसे शब्द से विशेष लगाव नहीं रखते। अपनी अल्पतम आवश्यकताओं की पूर्ति में ही वे सन्तुष्ट रहते हैं। किन्तु ऐसे

- **अपनी महत्ता को स्थापित करने की आकांक्षा ही महत्त्वाकांक्षा है। यह महत्त्वाकांक्षा राजनीति, उद्योग, खेल, अभिनय, व्यापार, चिकित्सा-विज्ञान, इंजीनियरिंग, कला, साहित्य आदि किसी भी क्षेत्र में हो सकती है।**
- **जो जितना अधिक बुद्धिमान एवं सक्षम होता है, उसमें उतनी ही अधिक महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं।**
- **व्यक्ति में यदि उच्च लक्ष्य की ओर बढ़ने की आकांक्षा न हो तो मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में उस व्यक्ति का समुचित विकास नहीं हो पाता।**
- **महत्त्वाकांक्षा या उच्चाकांक्षा मनुष्य को जहाँ प्रगतिपथ की ओर उन्मुख करती है, वहाँ उसमें अभिमान, लोभ आदि दोषों के पोषण की भी प्रबल सम्भावना रहती है।**

व्यक्ति जीवन में पिछड़े माने जाते हैं।

व्यक्ति में यदि उच्च लक्ष्य की ओर बढ़ने की आकांक्षा न हो तो मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में उस व्यक्ति का समुचित विकास नहीं हो पाता। अतः आगे बढ़ने के लिए चुनौतीपूर्ण लक्ष्य तय किए जाते हैं एवं उनकी पूर्ति हेतु प्रयत्न किए जाते हैं। जिसकी महत्त्वाकांक्षा जितनी सुदृढ़ होती है वह उसके लिए उतना ही प्रयत्न भी करता है। यदि प्रयत्न उस महत्त्वाकांक्षा की सफलता के अनुरूप हों एवं अन्य घटक भी सहायक हों तो सफलता भी प्राप्त होती है। महत्त्वाकांक्षा या उच्चाकांक्षा मनुष्य को जहाँ प्रगतिपथ की ओर उन्मुख करती है, वहाँ उसमें अभिमान, लोभ आदि दोषों के पोषण की भी प्रबल सम्भावना रहती है।

महत्त्वाकांक्षा के भी विभिन्न आयाम होते हैं। कभी यह व्यक्तिगत क्षमताओं को ऊँचा उठाने की प्रमुखता लिए हुए होती है, कभी समाज के समक्ष अपना महत्त्व स्थापित करने की प्रमुखता लिए होती है। किन्तु प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप से सभी महत्त्वाकांक्षाएँ समाज के समक्ष व्यक्ति के महत्त्व को उजागर करने की भावना से ओतप्रोत होती हैं।

एक विद्यार्थी की महत्त्वाकांक्षा कक्षा में प्रथम स्थान लाने से लेकर डॉक्टर, इंजीनियर, एडवोकेट, प्रबन्धक, उद्योगपति, अधिकारी आदि बनने की हो सकती है। वह अपनी अभीष्ट महत्त्वाकांक्षा को एक चुनौती मानकर उसकी पूर्ति हेतु जुट जाता है। वह विभिन्न प्रतिद्वंद्वियों के बीच संघर्ष करता हुआ यदि अपने लक्ष्य में सफल हो जाता है तो उसे प्रसन्नता, खुशी या सुख का अनुभव होता है। इस सफलता के अनन्तर इसी प्रकार वह आगे की उच्चाकांक्षा तय

- **अपनी क्षमताओं के अनुरूप ही उच्च लक्ष्य तय करे तथा लक्ष्य निर्धारित करते समय विवेक की उपेक्षा न करे।**
- **जो अपनी वास्तविकता से परिचित नहीं होते वे अहं के नशे में जीते हैं, सच्चा-विकास नहीं कर पाते।**
- **समाज की दृष्टि में कोई कितना भी बड़ा या महत्त्वशाली व्यक्ति क्यों न हो, किन्तु उसे अपना सही मूल्यांकन करते हुए पांव जमीं पर ही रखना चाहिए। जो अपनी वास्तविकता से परिचित नहीं होते वे अहं के नशे में जीते हैं।**
- **इतिहास गवाह है कि महत्त्वा-कांक्षाएँ व्यक्ति एवं समाज को बरबाद करने में भी निमित्त बनी हैं। सिकन्दर, हिटलर आदि इसके उदाहरण हैं।**
- **महत्त्व की आकांक्षा न होते हुए भी महत्त्व की प्राप्ति होना कोई दोष नहीं है।**

करता है एवं उसकी पूर्ति के लिए तत्पर हो जाता है। उच्चाकांक्षा की पूर्ति मनुष्य को सुख(सातावेदनीय) का अनुभव कराती है, इसलिए इन आकांक्षाओं का निरन्तर जन्म होता रहता है एवं व्यक्ति उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करता रहता है।

भौतिक दृष्टि से इन उच्च आकांक्षाओं का महत्त्व हो सकता है, किन्तु आध्यात्मिक एवं पारमार्थिक दृष्टि से इन पर चिन्तन किया जाय तो अनेक खतरे भी इनके साथ जुड़े रहते हैं, यथा–

1. एक महत्त्वाकांक्षा के पूर्ण होने पर लोभ बढ़ता है। लोभ के कारण अविवेकपूर्ण महत्त्वाकांक्षाओं का जन्म भी सम्भव है, जो व्यक्ति, परिवार एवं समाज के लिए भी अहितकर हो सकती हैं।
2. महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति अनीति, बेईमानी, हिंसा आदि दुर्गुणों को अपना कर मानसिक शान्ति तो खोता ही है, किन्तु जीवन – मूल्यों की दृष्टि से भी पतन की ओर बढ़ता है।
3. महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति लोभ की प्रवृत्ति के साथ अहंकार के पोषण एवं फिर उसके नशे में फंसकर अपना भान भूल बैठता है।
4. दूसरों के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, छल–छद्म उत्पन्न होते हैं। निकटतम प्रतिद्वन्द्वी के अहित के लिए प्रयत्न शुरू हो सकते हैं।
5. महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति नहीं होने पर निराशा, अवसाद (डिप्रेशन) आदि की स्थिति उत्पन्न होती है, शारीरिक बीमारियाँ भी स्थायी रूप से घर कर सकती हैं। महत्त्वाकांक्षी लोगों में डिप्रेशन की स्थिति अनेक बार देखने में आती है।

कभी–कभी व्यक्ति अपने लक्ष्यों की पूर्ति हेतु अनैतिक मार्ग भी अपनाता है, जो उसको एवं समाज को मलिन बनाने में कारण बनता है। महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति में प्रतियोगिता भी रहती है, अतः दूसरों से आगे बढ़ने के लिए व्यक्ति दूसरों की टांग खींचने के लिए कई तरह के उपाय करता है, जिन्हें व्यापक हित में कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि व्यक्ति किसी प्रकार का महत्त्वाकांक्षी लक्ष्य निर्धारित करे या नहीं? इस सम्बन्ध में कहना होगा कि वह अपनी क्षमताओं के अनुरूप ही उच्च लक्ष्य तय करे तथा लक्ष्य निर्धारित करते समय विवेक की उपेक्षा न करे। लक्ष्य पूर्ति के लिए पुरुषार्थ का पूरा उपयोग करे, किन्तु कभी भी अनैतिक एवं हानिकारक उपायों का उपयोग न करे। आज बहुत से लोग धनिक बनने के लिए लोगों में गुटखा, पान मसाला, सिगरेट आदि की गलत आदतें डालने को तैयार हैं। क्या उनके इन उपायों को

व्यापक दृष्टि से उचित कहा जा सकता है? महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के साथ यह सजगता आवश्यक है कि उनके कारण स्वयं एवं दूसरों के दोषों में वृद्धि तो नहीं हो रही है।

समाज की दृष्टि में कोई कितना भी बड़ा या महत्त्वशाली व्यक्ति क्यों न हो, किन्तु उसे अपना सही मूल्यांकन करते हुए पांव जमीं पर ही रखना चाहिए। जो अपनी वास्तविकता से परिचित नहीं होते वे अहं के नशे में जीते हैं, सच्चा विकास नहीं कर पाते। इतिहास गवाह है कि महत्त्वाकांक्षाएँ व्यक्ति एवं समाज को बरबाद करने में भी निमित्त बनी हैं। सिकन्दर, हिटलर आदि इसके उदाहरण हैं।

व्यक्ति अपनी भौतिक योग्यताओं का विकास मात्र अपने अहं के लिए नहीं, दूसरों की सेवा के लिए भी करे। इससे दूसरों को धोखा देने की भावना जन्म नहीं लेगी। स्वार्थ की संकीर्णताएँ ही व्यक्ति में दोषों को जन्म देती हैं। उदारतापूर्वक अच्छा कार्य करने वाले की समाज को स्वतः ही मांग रहती है। उसका महत्त्व स्वतः स्थापित हो जाता है। किन्तु अपना महत्त्व स्थापित करने की भावना एवं महत्त्व स्थापित होने पर उसका अहंकार व्यक्ति के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने अनेक शत्रुओं एवं आलोचकों को जन्म दे देते हैं।

प्रतिस्पर्धा के इस युग में योग्यता का संवर्धन आवश्यक है, किन्तु फल-प्राप्ति के प्रति आसक्तिभाव मनुष्य के दुःख का कारण बनता है। यह आसक्ति ही समाज को भी प्रदूषित करने में कारण बनती है।

महत्त्वाकांक्षा का आध्यात्मिक दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि यह भौतिक एवं बाह्य क्षेत्र से ही जुड़ी होती है। साधनाशील व्यक्ति आकांक्षाओं से ही दूर रहता है तो फिर महत्त्वाकांक्षा की तो बात ही क्या। उसकी दृष्टि भौतिक आकांक्षाओं से रहित होकर आत्मोन्नयन के प्रति अभिमुख होती है। आकांक्षा तो कांक्षा मोहनीय कर्म की प्रतीक होती है।

महत्त्व की आकांक्षा न होते हुए भी महत्त्व की प्राप्ति होना कोई दोष नहीं है। हाँ, उस महत्त्व के कारण अपने को बड़ा मानना एवं अहंकार के वशीभूत होना अवश्य ही त्याज्य है।

महत्त्वाकांक्षा एक प्रकार की इच्छा है। इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हो सकती हैं। सुखी एवं तनावरहित जीवन के लिए इनकी भी सीमा रेखा तय करनी चाहिए। जो इनकी सीमा रेखा तय कर लेता है वह आनन्द का अनुभव करता है तथा जो इनकी निरन्तर वृद्धि करता रहता है वह एक दिन अवश्य निराश एवं पस्त होकर दम तोड़ देता है। **(अक्टूबर, 2000)**

अहं की तुष्टि

मनुष्य का जीवन अहं केन्द्रित होता है। छोटे शिशु से लेकर बालक, किशोर, युवा, वृद्ध सभी अपने अहं की तुष्टि की अभिलाषा रखते हैं। यह तुष्टि कभी चेतन मन से ज्ञात रूप में होती है तो कभी अचेतन मन से अज्ञात रूप में भी होती है। छोटा बच्चा भी डाँटने या पीटने से अपमान का अनभुव करता है तथा उसकी प्रशंसा किये जाने पर अथवा उसकी बात मान लिये जाने पर उसे हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव होता है। बालक में अहंत्व एवं ममत्व का जो स्वरूप होता है, उससे परिवार-जनों को अधिक कष्ट नहीं होता। जब बालक किशोर बनता है, तब उसमें अपने व्यक्तित्व के प्रति जागरूकता बढ़ती है। वह अपने मित्रों की पसन्द, ना पसन्द के अनुसार अपने जीवन को ढालने लगता है। वह पहले जहाँ माता-पिता के अनुसार चलता था, वहाँ अब स्वयं की इच्छा को भी महत्त्व देने लगता है, क्योंकि उसके सम्पर्क का क्षेत्र बढ़ने लगता है तथा बुद्धि और संवेगों का भी विकास होता है। उसका सुप्त अहं सक्रिय हो जाता है। उसे अपने व्यक्तित्व को दूसरों के समक्ष भिन्न रूप में प्रस्तुत करना रुचिकर लगता है।

- **मनुष्य का जीवन अहं केन्द्रित होता है। छोटे शिशु से लेकर बालक, किशोर, युवा, वृद्ध सभी अपने अहं की तुष्टि की अभिलाषा रखते हैं।**
- **बुजुर्ग लोग समाज की विभिन्न परम्पराओं का पालन भी अहं की रक्षा के लिए करते हैं।**
- **मान कषाय की अभिव्यक्ति अहंकार के रूप में होती है।**
- **मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में अहंकार के दो पक्ष हैं- सकारात्मक और नकारात्मक। सकारात्मक पक्ष में स्वाभिमान या आत्मगौरव का समावेश होता है, जबकि नकारात्मक रूप व्यक्ति के आत्मगुणों का संहारक होता है।**

शरीर, बुद्धि, धन, बाह्य साधन, उपलब्धि आदि के आधार पर अपने को सुन्दर, बलवान, बुद्धिमान आदि मानना ही अहंकार है। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है, बाह्य उपलब्धियाँ बढ़ती हैं त्यों-त्यों मनुष्य का अहंकार अधिक सुदृढ और सक्रिय होने

लगता है। वह अपने व्यक्तित्व की अलग पहचान बनाने के प्रति सचेष्ट रहता है। वह अभिलाषाओं को जन्म देता है। उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करता है। उनकी पूर्ति होने पर आत्म तुष्टि का अनुभव करता है। जब उपलब्धियाँ मिलती रहती हैं तो अहंकार या अभिमान के नशे से आविष्ट हो जाता है। जब वह अपने से अधिक दूसरों की उपलब्धियों पर ध्यान आकृष्ट करता है तो प्राय: हीनता का अनुभव करता है। हीनभाव एवं अभिमान दोनों ही मनुष्य के लिए हानिकारक हैं। किन्तु बाह्य वस्तुओं एवं उपलब्धियों के आधार पर अपना मूल्यांकन करने पर व्यक्ति अभिमान या हीनभाव से ग्रस्त हो ही जाता है।

- **अंहकारी व्यक्ति के साथ समायोजन अत्यन्त कठिन होता है। वह किसी को प्रिय नहीं होता।**
- **व्यक्ति के अभिमान पोषण के साथ निन्दा के रस का तत्त्व भी जुड़ा हुआ है।**
- **मान या अहंकार को जीतने का उपाय मार्दव भाव है– 'माणं मद्दवया जिणे'।**
- **परिवार, समाज या कार्यक्षेत्र में भी वही सबसे अधिक समायोजन कर सकता है जो मार्दव गुण से युक्त है।**
- **अहंकार व्यक्ति में अकड़ पैदा करता है। अकड़ने वाले का विनाश उस पेड़ की तरह होता है जो तूफान आने पर धराशायी हो जाता है।**

बुजुर्ग लोग समाज की विभिन्न परम्पराओं का पालन भी अहं की रक्षा के लिए करते है। मृत्यु– भोज आदि कुरीतियाँ अहं की रक्षा और सामाजिक दबाव के कारण सुरक्षित रहती हैं। इसीलिए ऐसी कुरीतियों के निवारण में सामाजिक या सामूहिक निर्णय महत्त्व के होते हैं। समाज यदि मिलकर किसी कुपरम्परा के निवारण का निर्णय कर लेता है तो व्यक्ति का अहं बाधित नहीं होता है। उदाहरण के लिए आज विवाह समारोह में आडम्बर एवं प्रदर्शन के बहाव में व्यक्ति स्वरुचि–भोज का आयोजन करता है, जिसमें पचासों प्रकार के व्यंजन बनाकर वह प्रतिष्ठा अर्जित करने का प्रयास करता है तथा उससे अपने अहंकार को तुष्ट करता है। यदि समाज सामूहिक निर्णय कर ले कि विवाह आदि समारोह में 12 व्यंजन से अधिक नहीं बनेंगे तो व्यक्ति के अहं–पोषण के निमित्त का परिहार होगा। वह फिर 12 व्यंजन बनाकर भी संतुष्ट रहेगा। साथ ही अपव्यय पर भी रोक लगेगी। वैसे यह देखा जाता है कि व्यक्ति के अहं–पोषण का एक मार्ग अवरुद्ध होता है तो दूसरा द्वार खुल जाता है।

जैन साधना पद्धति में क्रोध, मान, माया एवं लोभ कषायों पर विजय प्राप्ति

को महत्त्व दिया जाता है। मान कषाय की अभिव्यक्ति अहंकार के रूप में होती है। बहुत कम लोग इस तथ्य से परिचित होते हैं कि अहंकार अपने लिए भी घातक होता है और दूसरों के लिए भी । यह पारिवारिक समन्वय में सर्वाधिक बाधक तत्त्व है। पति–पत्नी में तलाक की समस्या का यह एक प्रमुख कारण है। अशिक्षित हों या शिक्षित, अहंकार का भाव सभी में विद्यमान है। स्त्री एवं पुरुषों में अहं को लेकर टकराव बढे.हैं। इसलिए तलाक की घटनाएँ भी बढ़ रही हैं। कोई दहेज लेने एवं देने को अपनी प्रतिष्ठा के साथ जोड़ते हैं। यदि दहेज कम मिलता है तो उनके अहंकार को चोट लगती है तथा वे किसी भी प्रकार से नवपरिणीता वधू को यातनाएँ देना प्रारम्भ कर देते हैं। जिसका फल वर एवं वधू दोनों पक्षों को भोगना पड़ता है।

मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में अहंकार के दो पक्ष हैं– सकारात्मक और नकारात्मक । अहंकार के सकारात्मक पक्ष में स्वाभिमान या आत्मगौरव का समावेश होता है, जो व्यक्ति के विकास में सहायक सिद्ध होता है। जबकि अहंकार का नकारात्मक रूप अत्यन्त घातक होता है। वह व्यक्ति के आत्मगुणों का संहारक होता है तथा दूसरों के लिए भी विघातक सिद्ध होता है। अहंकार का यह रूप त्याज्य है। आत्मविश्वास भी अहंकार का सकारात्मक पक्ष माना जाता है, किन्तु व्यक्ति में आत्म–विश्वास का होना अत्यन्त आवश्यक है। यह उसका सद्गुण है जो उसके विकास को गति प्रदान करता है। अपनी क्षमता का विश्वास होना बुरा नहीं, किन्तु उसका घमण्ड या अभिमान होना बुरा है। इसलिए अति आत्मविश्वास भी त्याज्य है।

अहंकार व्यक्ति में अकड़ पैदा करता है। अकड़ने वाले का विनाश उस पेड़ की तरह होता है जो तूफान आने पर धराशायी हो जाता है। अहंकारी व्यक्ति में विनम्रता या विनयशीलता के गुण का नाश हो जाता है। वह विनम्रता का प्रयोग भी दम्भ या छलावे के लिए करता है। दूसरों को नीचा दिखाना उसकी आदत में शामिल हो जाता है। उससे उसे बड़ा आत्मतोष प्राप्त होता है। किन्तु दूसरों के विनाश पर टिका आत्मतोष कभी आत्म–विकास का मार्ग प्रशस्त नहीं करता। वह अन्य शत्रुओं को जन्म देता है। व्यक्ति को अपने सद्गुणों का भी अभिमान होता है, किन्तु अभिमान के कारण सद्गुण भी प्रदूषित हो जाते हैं और धीरे–धीरे उनका समापन होने लगता है।

अंहकारी व्यक्ति के साथ समायोजन अत्यन्त कठिन होता है। वह किसी को प्रिय नहीं होता। ऐसा व्यक्ति बात–बात पर बिफर पड़ता है। अहंकार के साथ क्रोध का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अहंकारी के अभिमान पर जब चोट लगती है तो वह क्रोधित हो जाता है। ऐसे अभिमानियों के साथ व्यवहार करने के लिए कहा जाता है– 'Handle

with care' । अभिमानी व्यक्ति अपने को ही श्रेष्ठ समझता है। दूसरों की श्रेष्ठता उसे चश्मा लगाने पर भी दिखाई नहीं पड़ती है। यदि दिखाई पड़ती भी है तो वह उसे स्वीकार नहीं करता तथा अनेक दोषों का उल्लेख कर उस श्रेष्ठता को धूमिल करने का प्रयास करता है।

व्यक्ति के अभिमान पोषण के साथ निन्दा के रस का तत्त्व भी जुड़ा हुआ है। परदोष–दर्शन एवं पर–निन्दा से अभिमानी को बड़ी शान्ति प्राप्त होती है, उसे आत्मतोष का अनुभव होता है। किन्तु निन्दा में कभी निर्मल दृष्टि नहीं होती। इसलिए निन्दा करने वाला किसी के दोषों की निन्दा करते–करते स्वयं उन दोषों में आबद्ध हो जाता है, क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण उसके अपने विचारों के अनुसार ही होता है।

मान या अहंकार को जीतने का उपाय मार्दव भाव है– 'माणं मद्दवया जिणे'। मार्दव भाव आत्मा का ऐसा गुण है जो व्यक्ति को संवेदनशील एवं कोमल बनाये रखता है। उस पर अहंकार की कठोरता अप्रभावी रहती है। अपने किसी भी गुण का अभिमान न करना मार्दव धर्म की पहचान है। परिवार, समाज या कार्यक्षेत्र में भी वही सबसे अधिक समायोजन कर सकता है जो मार्दव गुण से युक्त है। विवेक का प्रकाश भी इसमें सहयोगी बनता है। विवेकशील व्यक्ति अपने अभिमान का भी निरीक्षण करने में सक्षम होता है। संस्कृत के कवि ने अभिमान पर विजय का मार्ग प्रशस्त करते हुए कहा है–

विद्या विवादाय, धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोः विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।

अर्थात् खल (दुष्ट) या अभिमानी व्यक्ति की विद्या विवाद का, धन मद का, और शक्ति परपीडा का कारण बनती है, जबकि निरभिमानी या सज्जन व्यक्ति की विद्या ज्ञान वितरण में, धन दान में और शक्ति दूसरों की रक्षा में प्रयुक्त होती है।

व्यक्ति को अपने मिथ्या अहंकार की अपेक्षा आत्म–गुणों के विकास एवं परपीड़ा के विनाश को महत्त्व देना चाहिये। परपीड़ा के विनाश में संलग्न होते हुए भी उसका तनिक भी अभिमान न हो इतनी सजगता होनी चाहिये। यदि व्यक्ति दूसरों को अपनी भांति समझ कर उनके स्वाभिमान की रक्षा करते हुए व्यवहार करता है तो टकराव के निमित्त स्वतः ही टल जाते हैं, तथा व्यक्ति में प्रेम, सौहार्द और सरलता का भाव सबके लिए आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। **(मई, 2004)**

वैराग्य

राग को त्याज्य समझकर उसके त्याग के लिए प्रवृत्त होना वैराग्य है अथवा यों कहें कि रागवर्धक सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग करना वैराग्य है। यह राग पर विजय का उपक्रम है। वैराग्य से ही वीतरागता का मार्ग प्रशस्त होता है। बिना वैराग्य के वीतरागता की प्राप्ति असंभव है। वैराग्य में राग को जीतने अर्थात् उससे रहित होने का प्रयत्न होता है वहाँ वीतरागता में राग का पूर्ण अभाव रहता है। जो राग से रहित होता है वह द्वेष से भी रहित होता है। राग-द्वेष का पूर्ण अभाव होने पर ही कोई वीतराग बनता है।

राग और द्वेष ऐसे सूक्ष्मभाव हैं जो दिन-रात हमें घेरे रहते हैं, फिर भी हम उनसे उसी प्रकार अनभिज्ञ बने रहते हैं, जैसे हम हमारे श्वास के आवागमन से अनभिज्ञ होते हैं। एकाग्र होकर श्वास को बिना किसी प्रतिक्रिया के देखने लगें तो हमें श्वास के आने एवं जाने का अथवा उसके तीव्र या मन्द होने का पता चलने लगता है। श्वास की ऐसी प्रेक्षा करने पर श्वास स्वतः सामान्य हो जाता है और हमें शान्ति का अनुभव होता है। इसी प्रकार राग एवं द्वेष के भाव सदैव प्रकट होते रहते हैं, किन्तु हमें बोध ही

- **राग को त्याज्य समझकर उसके त्याग के लिए प्रवृत्त होना वैराग्य है। वैराग्य से ही वीतरागता का मार्ग प्रशस्त होता है।**
- **जो राग से रहित होता है वह द्वेष से भी रहित होता है। राग-द्वेष का पूर्ण अभाव होने पर ही कोई वीतराग बनता है।**
- **हमें अपने अनुकूल वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थिति के प्रति राग होता है तथा प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थिति के प्रति द्वेष होता है। राग अथवा द्वेष की प्रवृत्ति सतत चलती रहती है। यह ही हमारे बंधन की एवं दुःखों की मूल कारण है।**
- **राग का रंग वास्तविक सत्य का बोध नहीं होने देता।**
- **वैराग्य तीन प्रकार का प्रतिपादित किया गया है- दुःख-गर्भित वैराग्य, मोहगर्भित वैराग्य एवं ज्ञानगर्भित वैराग्य।**

■ ज्ञान होने पर भोगों के प्रति आकर्षण नहीं होता। उनकी नश्वरता एवं सुखाभासता व्यक्ति को दुःखरूप प्रतीत होती है और वह उसे आकर्षित नहीं कर पाती।

■ राग-द्वेष को जीतने के लिए समत्व की साधना पर बल दिया गया है। समत्व में रहकर ही मोह को जीता जा सकता है। समत्व में ही विवेक का उदय होता है।

■ अपने ही राग एवं द्वेष का जब हम निरीक्षण करने लगेंगे तो द्वेष पहले पकड़ में आएगा। राग उससे सूक्ष्म है वह विलम्ब से पकड़ में आता है।

■ अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों के उपस्थित होने पर भी मुनि-धर्म की साधना से विचलित न होना इसी बात का संकेत है कि वे राग-द्वेष के भावों से ऊपर उठ रहे हैं।

■ वैराग्य किसी से घृणा नहीं, अपितु विषयों से विरक्ति है। वैराग्य में आत्मजय, आत्मानन्द एवं आत्मज्ञान का महानद प्रवाहित होता है।

नहीं होता कि कब राग हो गया और कब द्वेष। हमें अपने अनुकूल वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थिति के प्रति राग होता है तथा प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थिति के प्रति द्वेष होता है। राग अथवा द्वेष की प्रवृत्ति सतत चलती रहती है। यह ही हमारे बंधन की एवं दुःखों की मूल कारण है। जिसे बंधन रहित एवं पूर्णतः दुःखमुक्त होना है, उसे राग एवं द्वेष का त्याग करना होता है।

राग वह भाव है जो हमें विषयों में अथवा पर में रंग देता है, फिर असली स्वरूप या सत्य ढक जाता है। राग का रंग वास्तविक सत्य का बोध नहीं होने देता। इसलिए वास्तविक सत्य का बोध करने के लिए वैराग्य का पथ अपनाया जाता है।

व्यक्ति को वैराग्य कभी भी एवं किसी भी कारण से उत्पन्न हो सकता है। आचार्यों ने वैराग्य तीन प्रकार का प्रतिपादित किया है- दुःखगर्भित वैराग्य, मोहगर्भित वैराग्य एवं ज्ञानगर्भित वैराग्य। संसार के दुःखों को देखकर संसार से विरक्ति का भाव दुःखगर्भित वैराग्य के अन्तर्गत आता है। अपने किसी परिजन के मोह में पड़कर दीक्षा या प्रव्रज्या अंगीकार करना मोहगर्भित वैराग्य है। किसी साधु-साध्वी के मोह से भी दीक्षा लेना मोहगर्भित वैराग्य में सम्मिलित होता है। ज्ञानगर्भित वैराग्य सबसे उत्कृष्ट है। यह वैराग्य ज्ञानपूर्वक होता है। संसार के विनश्वर एवं दुःखरूप स्वरूप को समझकर उसको त्यागना ज्ञानगर्भित वैराग्य है। ज्ञानगर्भित वैराग्य होने पर ही दशवैकालिक सूत्र की निम्नांकित गाथा खरी उतरती है-

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठीकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ।।

-दशवैकालिक 2.3

जो अभीष्ट एवं प्रिय भोगों के प्राप्त होने पर भी उनसे पीठ मोड़ लेता है और स्वाधीन होकर भोगों का त्याग कर देता है, वह त्यागी कहलाता है। ऐसा त्याग तभी संभव है जब ज्ञानगर्भित वैराग्य हो। ज्ञान होने पर भोगों के प्रति आकर्षण नहीं होता। उनकी नश्वरता एवं सुखाभासता उसे दुःखरूप प्रतीत होती है और वह उसे आकर्षित नहीं कर पाती।

जो संसार में आसक्त है वह तो राग और द्वेष में ही जीता है। राग में वह इतना बेभान होता है कि उसे अपनी इष्ट वस्तु, अभीष्ट व्यक्ति एवं अभिलषित परिस्थिति में दोष नज़र नहीं आता–**'रागी दोषान् न पश्यति।'** वह समत्वदृष्टि से वंचित हो जाता है। मेरा यदि धन से राग है तो मुझे धन के दोष दिखाई नहीं पड़ते। पुत्र में राग है तो उसकी कमियों पर नज़र नहीं जाती। मेरा राग पुत्र को बिगाड़ने में कैसे साधन बन रहा है, यह मुझे ज्ञात नहीं होता। राग का आवेश व्यक्ति के विवेक को आच्छादित कर देता है। यही कार्य द्वेष भी करता है। उससे भी विवेक धूमिल हो जाता है। ये दोनों कर्म–बंधन के मूल कारण हैं– **''रागो य दोसो बिय कम्मबीयं।''** राग एवं द्वेष का मूल मोह है। मोह अथवा मूढता होने पर ही राग–द्वेष होते हैं। मोह व्यक्ति को मूढ बनाता है। मूढता में जो भी प्रतिक्रिया होती है वह या तो रागात्मक होती है या फिर द्वेषात्मक। इसलिए राग–द्वेष को जीतने के लिए समत्व की साधना पर बल दिया गया है। समत्व में रहकर ही मोह को जीता जा सकता है। समत्व में ही विवेक का उदय होता है। वह किसी बहाव में नहीं बहता, अपितु तटस्थ रहकर अपने आपको राग–द्वेषात्मक प्रवृत्तियों से पृथक् कर लेता है। इस साधना के अभ्यास का प्रतिपादन उत्तराध्ययन सूत्र के 32 वें अध्ययन में करते हुए कहा गया है–

सोयस्स सद्दं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो।।

शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। वह मनोज्ञ (अभीष्ट) प्रतीत होने पर राग का हेतु बनता है तथा अमनोज्ञ (अप्रिय) प्रतीत होने पर द्वेष का हेतु होता है। जो इनमें समत्व रखता है अर्थात् राग एवं द्वेष नहीं रखता वह वीतराग होता है। वीतरागता की साधना का यह अभ्यास सभी इन्द्रियों के विषयों के प्रति हमारी प्रतिक्रिया के निरीक्षण से प्रारम्भ किया जा सकता है। हम अमनोज्ञ व्यक्ति, वस्तु एवं परिस्थिति से उद्वेलित

होते हैं तो हम समता में नहीं हैं, वैराग्य का प्रभाव हमारे पर नहीं है तथा इसी प्रकार मनोज्ञ स्थितियों में हम अधिक हर्षित एवं उत्साहित होते हैं तो भी हम समता में नहीं हैं।

द्वेष की अवस्था का बोध राग की अवस्था के बोध की अपेक्षा सरल है। अपने ही राग एवं द्वेष का जब हम निरीक्षण करने लगेंगे तो द्वेष पहले पकड़ में आएगा। राग उससे सूक्ष्म है वह विलम्ब से पकड़ में आता है। किन्तु जहाँ द्वेष है वहाँ किसी अन्य से राग अवश्य है। इसी प्रकार किसी से राग होने पर किसी से द्वेष भी अवश्य होता है।

वैराग्य के पथ पर कदम बढ़ाने का अर्थ है राग एवं द्वेष पर विजय के लिए तत्पर होना। प्रारम्भ में वैराग्य किसी भी कारण से आया हो, किन्तु वैराग्य को स्वीकार कर लेने पर सजगतापूर्वक राग–द्वेष के निकन्दन का अभ्यास आवश्यक है। संयम की साधना का यही सुफल है।

जैनमुनि की साधना समस्त प्राणियों के प्रति अनुकम्पाभाव पूर्वक अभयदान एवं आत्मीयता प्रदान करने के साथ, मन, वचन एवं काया तीनों की प्रवृत्तियों पर संयम रखते हुए राग–द्वेष के उच्छेदन की साधना है। अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों के उपस्थित होने पर भी मुनि–धर्म की साधना से विचलित न होना इसी बात का संकेत है कि वे राग–द्वेष के भावों से ऊपर उठ रहे हैं। राग–द्वेष को जीतने के लिए आचारांग में साधु को सदैव अप्रमत्त या सजग रहने की शिक्षा दी गई है। उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें अध्ययन में भगवान् महावीर ने गौतम गणधर से कहा– "**समयं गोयम! मा पमायए।**" जो प्रवृत्तियाँ एवं कार्य संसार की ओर ले जाने वाले हैं, उन्हें छोड़कर साधक स्वाध्याय, ध्यान एवं साधना में ही अपना समय लगाये तो उसमें राग–द्वेष पर विजय की शक्ति का अभिवर्द्धन होना सुनिश्चित है। फिर वैराग्य में वह आनन्द आएगा जो संसार के किसी पदार्थ में नहीं है। जैसे कीचड़ में किए गए स्नान एवं जल के स्नान में भेद है उसी प्रकार सांसारिक भोगों में गृद्ध व्यक्ति एवं वैराग्य के रंग में रंगे साधक में महान् भेद है। वैराग्य किसी से घृणा नहीं, अपितु विषयों से विरक्ति है। घृणा को वैराग्य कहना एवं समझना उसका विकृत रूप है, वैराग्य में तो आत्मजय, आत्मानन्द एवं आत्मज्ञान का महानद प्रवाहित होता है। **(सितम्बर, 2006)**

प्रदर्शन और उदारता

एक विवाह समारोह में पचासों व्यंजन बनवाना प्रदर्शन है, उदारता नहीं। इसी प्रकार नित्य प्रति फैशन के अनुसार वस्त्रादि का परिवर्तन प्रदर्शन का विषय है, उदारता का नहीं। इसके विपरीत बिना प्रचार के एक निर्धन का अर्थ सहयोग उदारता है, प्रदर्शन नहीं। जरूरतमंदों की शिक्षा, चिकित्सा, छात्रवृत्ति आदि की भावनापूर्वक व्यवस्था उदारता का विषय है, प्रदर्शन का नहीं। प्रदर्शन एवं उदारता दोनों में धन का व्यय होते हुए भी आन्तरिक भावों में महान् अन्तर होता है। प्रदर्शन में प्रशंसा की चाह छिपी होती है और उदारता में निष्कामता का भाव होता है। अपने अहंकार के पोषण एवं प्रदर्शन के लिए व्यक्ति लाखों एवं करोड़ों खर्च करने को तैयार हो जाता है, किन्तु जहाँ न अहंकार का पोषण होता है और न प्रचारात्मक प्रदर्शन होता है वहाँ उदारता का भाव ही व्यक्ति को अपने संसाधनों का वितरण करने के लिए उत्साहित करता है।

आज प्रदर्शन का युग है। दूसरों के समक्ष अपनी शेखी बघारने एवं प्रदर्शन के माध्यम से दूसरों के दिलों में अपना स्थान बनाने का युग है। उपभोक्ताओं को तैयार करने या रिझाने में विज्ञापन एवं प्रदर्शन का

- **प्रदर्शन एवं उदारता दोनों में धन का व्यय होते हुए भी आन्तरिक भावों में महान् अन्तर होता है। प्रदर्शन में प्रशंसा की चाह छिपी होती है और उदारता में निष्कामता का भाव होता है।**
- **प्रदर्शन कभी वास्तविकता या सच्चाई का हो सकता है, किन्तु अधिकतर इसमें छद्म या विकार विद्यमान रहता है।**
- **प्रदर्शन एक विकृति है, जो प्रदर्शनकर्ता एवं समाज दोनों के लिए घातक है।**
- **उदारता का भाव सद्गुण है और प्रदर्शन का भाव विकृति।**
- **प्रदर्शन में दूसरों से कुछ पाने की चाह होती है जबकि उदारता में दूसरों को देने की भावना होती है।**
- **उदार व्यक्ति दूसरों की कमियों एवं बुराइयों को भी नज़र अंदाज कर उनके साथ प्रेम, सहिष्णुता एवं मैत्री का व्यवहार करता है।**

बड़ा महत्त्व है। बाजार इसी से तैयार होता है। प्रदर्शन का यह रूप मानव के व्यक्तित्व का भी हिस्सा बन गया है। प्रदर्शन पारस्परिक व्यवहार का अंग बन रहा है। प्रदर्शन कभी वास्तविकता या सच्चाई का हो सकता है, किन्तु अधिकतर इसमें छद्म या विकार विद्यमान रहता है। भीतर कुछ एवं बाहर कुछ की इस प्रवृत्ति में धोखे या छलावे की संभावना अधिक रहती है। उदारता में अपनी प्रशंसा की चाह नहीं रहती, अपनी सुख-सुविधा की अपेक्षा दूसरों की सुख-सुविधा का ख़याल रहता है।

प्रदर्शन एक विकृति है, जो प्रदर्शनकर्ता एवं समाज दोनों के लिए घातक है। प्रदर्शनकर्ता के केन्द्र में अहंकार की तुष्टि की प्रमुखता होती है। वह वास्तविकता से दूर हटकर कभी हैसियत से अधिक भी अपव्यय कर देता है, जिसका परिणाम सुदीर्घकाल तक भोगना पड़ता है। वह दूसरों से प्रशंसा की अपेक्षा रखता है। यदि प्रशंसा न मिले तो निराश होकर अवसाद की स्थिति में चला जाता है तथा प्रशंसा मिलने पर अहंकार-पोषण के मद में बेभान बन जाता है। समाज पर भी इसका दुष्प्रभाव पड़ता है। समाज के लोग बाहर से तो उस प्रदर्शन की निन्दा करते हुए मिलते हैं तथा भीतर से उसे अपनाने का संस्कार अंकित कर लेते हैं। आगे समर्थ होने पर उनमें भी यह प्रदर्शन दृग्गोचर होता है।

प्रदर्शन का रूप श्रीमन्तों के यहाँ आयोजित विवाहादि समारोहों में तो देखने को मिलता ही है, धर्म के क्षेत्र में भी प्रदर्शन ने पैर पसार लिए हैं। तिलक-छापा वाले कई लोग दूसरों को दिखाने के लिए वैसा स्वाङ्ग बनाते हैं तथा मन्दिर आदि में जाते हैं। अपना पाप छिपाने के लिए भी ऐसा प्रदर्शन किया जाता है। जैन धर्म-स्थलों में भी कई बार धर्माराधना का प्रदर्शन होता है। कभी सामूहिक रूप से तो कभी व्यक्तिगत रूप से। यदि साम्प्रदायिक सौहार्द का उदारभाव नहीं है तो धर्मक्रियाएँ प्रदर्शन का विषय बनकर रह जाती हैं।

करोड़ों रुपया अनीति से कमाकर कुछ लोग लाख दो लाख रुपयों के दान की घोषणा मंचों से करा देते हैं, लोगों को ज्ञात हो जाता है कि अमुक सेठजी ने दान किया है, किन्तु वह पैसा पहुँचने में महीनों निकल जाते हैं। क्योंकि उन्हें दान से जो प्रशंसा प्राप्त होनी थी, वह तो हो चुकी। यह दान नहीं दान का प्रदर्शन है, अपना विज्ञापन है। धर्मक्षेत्र में थोड़ा पैसा खर्च करने से ही बड़ा नाम मिल जाता है। इसलिए नाम कमाने का यह सस्ता सौदा माना जाता है। कुछ लोग वास्तविक श्रद्धा एवं भावना से भी देते हैं, उन्हें नाम की परवाह नहीं रहती, किन्तु ऐसे दानवीरों एवं उदारमना सेठों की संख्या अंगुलिगण्य होती है। वे कार्य को महत्त्व देते हैं, नाम को नहीं। कुछ काम

और नाम दोनों देखते हैं। यह द्वितीय स्तर का दान है, किन्तु जो केवल अपने नाम पर दृष्टि रखते हैं, उनका दान उदारता का प्रतीक न होकर प्रदर्शन का ही द्योतक होता है। कुछ लोग न प्रदर्शन में विश्वास रखते हैं और न उदारता में। वे पूर्णतः कृपणवृत्ति के होते हैं। कृपणता दोष है।

सच्चे दाता कम ही होते हैं, गर्जना करने वाले अधिक होते हैं। यश-कीर्ति के लिए देने वाले अवसर ढूँढते हैं। वे अपने समारोहों में लाखों-करोड़ों का व्यय करने में नहीं झिझकते, किन्तु अन्यत्र हजारों में जोर आता है। धार्मिक क्षेत्रों में दान करने वाले व्यक्ति सन्त-महात्माओं के हृदय में अपना स्थान बनाने के लिए दान करते हैं। दान के माध्यम से उन्हें संघ, समाज एवं मंच पर ऊँचा स्थान मिल जाता है। धर्मक्षेत्र में कुछ दानदाता कहीं-कहीं अपनी ओर से सबसे अधिक राशि लिखकर संघ-समाज का सारा पैसा अपने पास रख लेते हैं, फिर उसका उपयोग-दुरुपयोग अपनी इच्छानुसार करते रहते हैं। यहाँ उदारता दिखाने मात्र की है, वास्तविक नहीं।

उदारता का भाव सद्गुण है और प्रदर्शन का भाव विकृति। आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा. ने प्रदर्शन से बचने का परामर्श देते हुए फरमाया है- "अमीर अपनी अमीरी का ठसका दिखलाता है। गरीब उसकी नकल करते हैं और सामर्थ्य से अधिक व्यय कर सिर पर ऋण का भार बढ़ाते हैं।" धर्म-स्थान में आने वाली महिलाओं को वे आभूषणों से सज-सँवर कर आने को उचित नहीं मानते- "बाई सोचती है कि सोने के गोखरू हाथों में पहन लें, सोने की लड़ गले में डाल लें, सोने की जंजीर कमर में बाँध लें, यहाँ तक कि माला के मनके भी चन्दन की लकड़ी के क्यों हों, चाँदी के दानों की माला बनवा लें, तो बहिनों का यह सोच ठीक नहीं। अन्यान्य प्रकार के अलंकार धारण कर तपस्या के पच्चक्खाण हेतु आडम्बर के साथ व्याख्यान में जावे, तो यह तपस्या में एक प्रकार का विकार है।" तप-प्रदर्शन में होने वाले व्यय का सदुपयोग करने की प्रेरणा करते हुए आचार्यप्रवर फरमाते हैं- "हजारों रुपये बैंड वगैरह में जीमनवार में खर्च होते हैं। वे उधर से बचाकर समाज-सेवा में लगाए जायें तो उस धन का अति सुन्दर सदुपयोग हो सकता है।"

उदारता का व्यवहार व्यक्ति को महान् बनाता है। वह भीतर से अहंत्व एवं ममत्व की जड़ों को ढीली करता है, जबकि प्रदर्शन इनकी जड़ों को सुदृढ़ बनाता है। प्रदर्शन में दूसरों से कुछ पाने की चाह होती है जबकि उदारता में दूसरों को देने की भावना होती है। प्रदर्शन में यदि कुछ दिया भी जाता है तो उससे सम्मान एवं यश की वांछा रहती है। उदारता में आत्मीयता का भाव होता है, सहिष्णुता का भाव होता है।

उदारता का तात्पर्य मात्र अर्थ से सहयोग करना ही नहीं है, उदारता व्यक्ति के प्रत्येक व्यवहार से संबंध रखती है। उदार व्यक्ति दूसरों की कमियों एवं बुराइयों को भी नजर अंदाज कर उनके साथ प्रेम, सहिष्णुता एवं मैत्री का व्यवहार करता है, जबकि प्रदर्शन करने वाला वास्तव में प्रेम, सहयोग आदि व्यवहार नहीं करता, किन्तु किसी तीसरे व्यक्ति के समक्ष इनका दिखावा करता है। यह दिखावा भ्रामक होता है।

धनपति होना एवं साधन-सम्पन्न होना अलग बात है तथा उदार होना अलग। आचार्यप्रवर ने उदारता के संबंध में कहा है-''हजार मिलाने वाला आदमी हजार के अनुपात से त्यागे, लाख मिलाने वाला आदमी लाख के अनुपात से और करोड़ मिलाने वाला करोड़ के अनुपात से त्यागे। यदि इस तरह से द्रव्य का त्याग होगा तो समाज में अहिंसा तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र के प्रचार-प्रसार के जो क्षेत्र हैं, जो साधु-साध्वियों के उपकार के क्षेत्र हैं और भी कई नये क्षेत्र हैं, सब व्यवस्थित चलेंगे।''

प्रदर्शन एवं उदारता में सूक्ष्म भेदरेखा है, जो मूलतः व्यक्ति के भावों के आधार पर स्पष्ट होती है। बाह्य-व्यवहार में भी कभी-कभी यह भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। बाह्य-व्यवहार की तुला से ही प्रदर्शन एक सामाजिक दोष के रूप में मान्य है, आध्यात्मिक स्तर पर तो इसकी दोषता में कोई सन्देह ही नहीं है। **(अगस्त, 2005)**

विकास के विविध आयाम

फूल जब खिलता है तो वह उसका विकास कहा जाता है। विकास सबको प्रिय है। आज विकास का तात्पर्य वृद्धि एवं प्रगति भी है। मनुष्य के विकास के अनेक आयाम हैं– शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आर्थिक, सामाजिक, भौतिक, आध्यात्मिक आदि। सभी आयामों का अपना महत्त्व है। कुछ आयाम इस प्रकार के हैं, जिनमें निश्चित सीमा तक विकास होने के पश्चात् क्षरण की अवस्था आ जाती है। शारीरिक विकास इसी प्रकार का विकास है। बालक छोटे से बड़ा होता है तो बहुत उत्साहित होता है। उसे आनन्द का अनुभव होता है। कपड़े, जूते, बस्ते सब नये आते रहते हैं। वह बड़ों को देखकर स्वयं भी बड़ा बनने के लिए उत्सुक रहता है, बहुत उमंग होती है। एक दिन वह किशोर एवं युवा हो जाता है। फिर प्रौढ़ होने के पश्चात् वृद्धावस्था की ओर बढ़ने लगता है तो उसे शारीरिक विकास का जो आनन्द आ रहा था, वह क्षीण होने लगता है। विकास की एक अवस्था प्राप्त कर शरीर उसी तरह क्षरण को प्राप्त होता है जिस तरह फूल खिलकर एक दिन मुर्झाने लगता है।

मानसिक एवं बौद्धिक विकास का भी प्रायः उम्र के साथ सम्बन्ध है। दो माह के बच्चे से छह माह के बच्चे का मानसिक विकास अधिक होता है। इसी प्रकार छह वर्ष के बालक का मानसिक–बौद्धिक विकास अपने से कम उम्र के बच्चे से अधिक होता है। एक सीमा के पश्चात् इस विकास की

- **मनुष्य के विकास के अनेक आयाम हैं– शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आर्थिक, सामाजिक, भौतिक, आध्यात्मिक आदि।**
- **मनुष्य का जितना अधिक शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकास होता है, वह आर्थिक एवं भौतिक विकास करने में उतना ही अधिक सक्षम होता है।**
- **आज विकास का मानदण्ड भौतिक सुख–सुविधाओं की उपलब्धि एवं उनके निरन्तर नवीनीकरण को माना जा रहा है। इसका उन्माद व्यक्ति को मानवीय जीवन–मूल्यों से दूर कर रहा है।**

गति भी मन्द हो जाती है। जो बौद्धिक एवं मानसिक व्यायाम अधिक करता है उसकी बुद्धि का विकास अधिक होता है। कर्म-क्षयोपशम भी इसमें कारण है।

मनुष्य का जितना अधिक शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकास होता है, वह आर्थिक एवं भौतिक विकास करने में उतना ही अधिक सक्षम होता है। इस क्षेत्र में आज की पीढी ने उल्लेखनीय विकास किया है। आर्थिक-विकास का आधार प्राकृतिक संसाधन भी हैं। इन्हें ही परिष्कृत कर आर्थिक विकास एवं भौतिक विकास की ऊँचाइयों को छुआ जा रहा है। भारत में भी पूर्वापेक्षा भौतिक एवं आर्थिक विकास परिलक्षित हो रहा है।

आधुनिक युग विकास का युग है। सूचना प्रौद्योगिकी एवं संचार माध्यमों में भारी विकास हुआ है। आज एक व्यक्ति हजारों किलोमीटर दूर बैठे व्यक्ति से टेलीफोन, मोबाइल फोन, ई-मेल, ई-कॉमर्स, इण्टरनेट, फैक्स** आदि पर सम्पर्क स्थापित कर समाचारों का आदान-प्रदान कर सकता है, व्यापार-व्यवसाय कर सकता है। सूचना के क्षेत्र में यह युग क्रान्तिकारी युग है। इण्टरनेट से वह किसी भी विषय की गूढ जानकारी प्राप्त कर सकता है, विषय विशेषज्ञों से सम्पर्क स्थापित कर सकता है। ऐसे टेलीफोन भी आ गए हैं, जिनमें जिससे बात की जाती है उसका फोटो भी दिखाई देता है। व्यापारी अपने कक्ष में बैठकर सारे कर्मचारियों पर टी.वी. उपकरणों से निगरानी रख सकता है। दूरदर्शन के स्टार टी.वी., जी.टी.वी. आदि इतने चैनल हैं कि शौकीनों के लिए चौबीस घण्टे भी कम पड़ते हैं। यदि कोई 100 वर्ष पूर्व के युग में रहा व्यक्ति अचानक आज इस युग को आकर देखे तो उसे एकाएक विश्वास ही न हो कि यह सब कैसे हो रहा है।

विद्युत् ऊर्जा, यान्त्रिक ऊर्जा, तापीय ऊर्जा, रासायनिक-ऊर्जा आदि के विकास के साथ ही भौतिक साधनों का नव-निर्माण एवं उपयोग बढ़ा है। इन साधनों को अब युग की आवश्यकता माना जा रहा है। इनमें विद्युत प्रकाश, रेफ्रिजरेटर, कूलर, ए.सी., टी.वी., वाशिंग मशीन, फैक्स, कम्प्यूटर आदि सब साधन विद्युत् ऊर्जा से संचालित होते हैं। ट्रेन भी आजकल इस ऊर्जा से चलती है। तापीय ऊर्जा से आण्विक ऊर्जा उत्पन्न की जा सकती है। रासायनिक ऊर्जा से अनेक वाहन एवं वायुयान चलते हैं। ऊर्जा के विविध रूप हैं। उन्होंने हमारे जीवन को एक गति प्रदान की है, जिसे आधुनिकता के रूप में जाना जाता है। यह आधुनिकता भौतिक वस्तुओं के उपयोग के विकास को प्रोत्साहित कर रही है। संसार में द्रव्य तो उतने ही रहते हैं

अब व्हाट्स एप्प, फेसबुक, ट्विटर, ब्लाग आदि कई विधाएँ विकसित हो गई हैं। **-सम्पादक

किन्तु पुद्गल द्रव्य के स्कन्धों का आकार–प्रकार बदलता रहता है। यही भौतिक विकास कहा जाता है।

भौतिकता के इस विकास में पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन प्रभावित हुआ है। विदेशों का प्रभाव भारतीय जन–जीवन पर भी पड़ा है। अब व्यक्तिगत सुख, स्वतन्त्रता एवं सुविधाओं को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है, दूसरों के लिए सहिष्णुता, त्याग एवं समर्पण के जीवन–मूल्य कमजोर पड़े हैं। अब अपने ही उदर में पले भ्रूण के प्रति भी प्रेम एवं वात्सल्य में कमी आई है, इसलिए परिवार–नियोजन के नाम पर उसकी हत्या के लिए भी मन तैयार हो जाता है। परिवारजनों में आत्मीय भाव न्यून होता नज़र आ रहा है। सम्बन्धों के नये आयाम खुले हैं, एवं पुराने आयाम क्षीण हुए हैं।

आज विकास का मानदण्ड भौतिक सुख–सुविधाओं की उपलब्धि एवं उनके निरन्तर नवीनीकरण को माना जा रहा है तथा इसका उन्माद व्यक्ति को मानवीय जीवन–मूल्यों से दूर कर रहा है, किन्तु भौतिक विकास भी एक चरम अवस्था को प्राप्त कर क्षरण की ओर बढ़ता ही है।

विकास के नाम पर भारतीय परिवेश में कई विकृतियाँ आ रही हैं, यथा– (1) तलाक की घटनाएँ बढ़ रही हैं। (2) स्वेच्छाचरण बढ़ा है। (3) पर्यावरण प्रदूषण बढ़ा है। (4) जीवन–मूल्यों की उपेक्षा हुई है। (5) मनुष्य की अपेक्षा वस्तुओं को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। (6) सत्संस्कारों का

- **विकास के नाम पर भारतीय परिवेश में कई विकृतियाँ आ रही हैं– तलाक, स्वेच्छाचरण, पर्यावरण प्रदूषण, जीवन–मूल्यों की उपेक्षा, मनुष्य की उपेक्षा, कुत्सित संस्कार, लघु एवं कुटीर उद्योगों की हानि, परतन्त्रता आदि।**
- **विकास के साधनों ने बच्चों की मानसिकता को विकृत किया है।**
- **वास्तविक विकास का मूल है– आध्यात्मिक विकास।**
- **भौतिक विकास ने जहाँ हिंसा, आतंक, क्रूरता आदि को बढ़ावा दिया है, दूसरे के प्रति मैत्री एवं स्नेहभाव को कमजोर किया है वहाँ आध्यात्मिक विकास से दया, करुणा, मैत्री, प्रमोद, प्रशम आदि भावों का प्रकटी–करण होता है।**
- **अब व्यक्तिगत सुख, स्वतन्त्रता एवं सुविधाओं को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है, दूसरों के लिए सहिष्णुता, त्याग एवं समर्पण के जीवन–मूल्य कमजोर पड़े हैं।**

स्थान कुत्सित आधुनिक संस्कार ले रहे हैं। (7) लघु-उद्योग एवं कुटीर उद्योगों की हानि हुई है, जो एक प्रकार से मानव-श्रम की हानि है। (8) परतन्त्रता बढ़ी है आदि।

विकास के साधनों ने बच्चों की मानसिकता को विकृत किया है। अतः सूचना-तन्त्र के साधनों का वे दुरुपयोग भी करते हैं। बच्चों को विकृत बनाने में दूरदर्शन की महती भूमिका है। इसने कम उम्र में ही बच्चों में वासना को जन्म दिया है एवं उसे निरन्तर बढ़ावा दिया है। अनेक धारावाहिक एवं उनमें आ रहे विज्ञापन अपसंस्कृति का प्रसार कर रहे हैं। निरोध-प्रयोग के खुले विज्ञापनों ने किशोरों एवं युवाओं को स्वेच्छाचरण के लिए प्रेरित किया है। विकास के नाम पर देश के चारित्रिक जीवन मूल्य, जो उसे परिवार एवं समाज के पवित्र रिश्ते से बाँधे रहते थे, आज विशृंखलित हो रहे हैं। बच्चों में इतनी परिपक्वता नहीं होती कि वे सब कुछ देखकर भी उससे अप्रभावित रह सकें। दूरदर्शन द्वारा दिए जा रहे ऐसे उन्मार्ग-प्रेरक उद्दीपनों पर रोक लगनी चाहिए। हिंसा एवं कत्लखानों के विरुद्ध आवाज उठाने वालों को इस सांस्कृतिक संकट के विरुद्ध भी आवाज उठानी चाहिए।

वास्तविक विकास का मूल है-आध्यात्मिक विकास। आध्यात्मिक विकास के बिना मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास नहीं होता। आध्यात्मिक विकास से तात्पर्य है आत्मगुणों का विकास। गुणों का विकास अवगुणों के दूर होने से अथवा आवरण के क्षय-क्षयोपशम से होता है। भौतिक विकास ने जहाँ हिंसा, आतंक, क्रूरता आदि को बढ़ावा दिया है, एक दूसरे के प्रति मैत्री एवं स्नेहभाव को कमजोर किया है वहाँ आध्यात्मिक विकास से दया, करुणा, मैत्री, प्रमोद, प्रशम आदि भावों का प्रकटीकरण होता है। इन भावों से जिस सरसता एवं आनन्द की अनुभूति होती है वह भौतिकता से कदापि सम्भव नहीं है।

मनुष्य आत्मिक विकास को भूलने पर ही अन्य विकासों को सब कुछ समझता है। आर्थिक, भौतिक, शारीरिक, बौद्धिक विकास अपनी जगह महत्त्व रखते हैं, किन्तु सम्यक् अन्तर्दृष्टि का विकास हुए बिना सारे विकास भ्रमजाल ही सिद्ध होते हैं। इसलिए अपनी अन्तःदृष्टि को पहचानने एवं उसको सम्यक् दिशा प्रदान करने की आवश्यकता है। यह अन्तःदृष्टि सम्यक् हो जाए तो अन्य विकासों के प्रति रहा हुआ उन्माद अवश्य ही नियन्त्रित होगा तथा मानव अनन्त परिधि की दौड़ में न भटक कर सीमा तय करते हुए सम्यक् दिशा निर्धारित कर सकेगा। सन्त-सतियों के प्रवचन एवं सत्साहित्य का स्वाध्याय इसमें सहायक बन सकता है। स्वयं की प्रज्ञा एवं तीक्ष्ण दृष्टि भी सम्यक् मार्ग प्रशस्त कर सकती है। **(सितम्बर, 2000)**

अनेकान्तवाद

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु नित्यानित्यात्मक है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो मात्र नित्य हो अथवा मात्र अनित्य हो। हम प्रधानता के आधार पर किसी वस्तु को नित्य एवं किसी वस्तु को अनित्य कह देते हैं। हम आत्मा को नित्य एवं शरीर को अनित्य समझते हैं, किन्तु जैनदर्शन का मन्तव्य है कि आत्मा द्रव्य की दृष्टि से ध्रुव होने के कारण नित्य है, परन्तु उसके ज्ञान, दर्शन आदि गुणों की पर्याय निरन्तर बदलती रहती है, अतः वह अनित्य भी है। शरीर अनित्य है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य की पर्याय है, किन्तु पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से नित्य है। क्योंकि पुद्गल सदैव पुद्गल बना रहता है। जैनदर्शन के अनुसार षड्द्रव्यों में से कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य के रूप में परिणत नहीं होता। धर्मास्तिकाय सदैव धर्मास्तिकाय बना रहता है, अधर्मास्तिकायादि अन्य द्रव्यों के रूप में परिणत नहीं होता। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और कालद्रव्य भी अपने-अपने स्वरूप में परिणमन करते हैं, अन्य द्रव्य में परिणमन नहीं करते हैं। इनका ऐसा ध्रौव्य स्वभाव ही नित्यत्व है। तत्त्वार्थसूत्र (5.30) में इस नित्यता को परिभाषित करते हुए कहा गया है-"**तद्भावाव्ययं नित्यम्।**" वस्तु के अपने स्वरूप का पूर्ण व्यय नहीं होना ही

- **अनेकान्तवाद के तीन पक्ष हैं- 1. तत्त्वमीमांसीय दृष्टि, 2. ज्ञान-मीमांसीय दृष्टि, 3. आचार-मीमांसीय दृष्टि।**
- **परिवार में प्रायः जो मन-मुटाव, द्वन्द्वादि उत्पन्न होते हैं, उनके पीछे आग्रहवादी और ऐकान्तिक विचारधारा प्रमुख कारण होती है।**
- **विचारों में अनेकान्त के प्रयोग से सहिष्णुता का भाव विकसित होता है। सहिष्णुता से परिवार एवं समाज में सामंजस्य उत्पन्न होता है।**
- **वस्तु के अपने स्वरूप का पूर्ण व्यय नहीं होना ही उसकी नित्यता है। प्रत्येक वस्तु की प्रतिक्षण पर्याय परिवर्तित होती रहती है, इस दृष्टि से वस्तु अनित्य है।**

उसकी नित्यता है। प्रत्येक वस्तु की प्रतिक्षण पर्याय परिवर्तित होती रहती है, इस दृष्टि से वस्तु अनित्य है। दूसरे शब्दों में वस्तु को स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य एवं स्यात् नित्यानित्य कहा जा सकता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने दीपक से लेकर आकाश तक सभी पदार्थों की एकान्त अनित्यता एवं एकान्त नित्यता का खण्डन कर उन्हें नित्यानित्य सिद्ध किया है–

आदीमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ।।

-अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, 5

- **अनेकान्तवादी व्यक्ति उदार-वादी एवं समग्रवादी होता है। आग्रह या एकान्तवाद के आधार पर आचरण करने वाला व्यक्ति अहंकारी, स्वार्थलोलुप और कषायभावों से अधिक ग्रस्त होता है।**
- **समाज में व्याप्त असंतोष, अन्ध-विश्वास, टकराव, पारस्परिक, विद्वेष आदि के मूल में एकान्त-वादी संकीर्ण दृष्टिकोण ही कारण रहा है।**
- **जीवन में एकान्तवाद विष एवं अनेकान्तवाद अमृत है।**
- **भगवान महावीर ने अनेकान्त-वाद के माध्यम से जीव के विवेक को जागृत किया है, जबकि एकान्तवाद में विवेक का द्वार बन्द हो जाता है।**
- **अनेकान्त सत्य का पथदर्शक है, जबकि एकान्त मिथ्या मान्यता के दृढ़ीकरण का रूप है।**

अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद की शैली का प्रयोग भगवान महावीर ने विभिन्न प्रश्नों के उत्तरों में किया। भगवती सूत्र में भगवान से प्रश्न किया गया– भगवन्! लोक शाश्वत है या अशाश्वत? भगवान् ने स्याद्वाद की शैली में उत्तर दिया– लोक स्यात् शाश्वत है और स्यात् अशाश्वत है। त्रिकाल में एक भी समय ऐसा नहीं मिल सकता जब लोक न हो, अतः लोक शाश्वत है। किन्तु लोक सदा एक-सा नहीं रहता, कालक्रम से उसमें उन्नति-अवनति होती रहती है, अतः वह अनित्य एवं परिवर्तनशील होने के कारण अशाश्वत भी है। इसी प्रकार लोक सान्त है या अनन्त? प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने परिव्राजक स्कन्धक से कहा– 'द्रव्य की अपेक्षा से लोक एक है और सान्त है, क्षेत्र की अपेक्षा से भी लोक असंख्यात कोटाकोटि योजन लम्बा-चौड़ा और असंख्यात कोटाकोटि योजन परिधि वाला है, अतः सान्त है। काल की दृष्टि से ऐसा काल नहीं जब लोक न हो, अतः लोक अनन्त है। भाव से यह

लोक अनन्त वर्णपर्यायवान्, अनन्त गन्धपर्यायवान्, अनन्त रसपर्यायवान्, अनन्त संस्थानपर्यायवान्, अनन्त गुरुलघुपर्याययुक्त एवं अनन्त अगुरुलघुपर्याययुक्त है, अतः भाव की दृष्टि से भी लोक अनन्त है। इसी प्रकार इन्द्रभूति गौतम के द्वारा जीव की शाश्वतता और अशाश्वतता के संबंध में प्रश्न किए जाने पर भगवान् ने फरमाया कि द्रव्यार्थिक दृष्टि से जीव शाश्वत है और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत।

तीर्थंकर महावीर की यह शैली समग्रदृष्टि (Holistic approach) की द्योतक है। वे जानते भी समग्रता से हैं तथा कथन भी समग्रता को ध्यान में रखकर स्याद्वादपूर्वक करते हैं। अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद के सिद्धान्त को मल्लवादी क्षमाश्रमण, सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने सबलता से प्रतिष्ठित किया है।

अनेकान्तवाद के तीन पक्ष हैं–1. **तत्त्वमीमांसीय दृष्टि–** इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक एवं अनन्तधर्मात्मक है। 2. **ज्ञानमीमांसीय दृष्टि–** इसके अन्तर्गत वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से जाना जाता है। जैनदर्शन में इसी का विकास नयवाद के रूप में हुआ। स्याद्वादपूर्वक कथन करना भी इसी ज्ञानमीमांसीय दृष्टि का रूप है। 3. **आचारमीमांसीय दृष्टि–** आचार में ऐकान्तिक आग्रह को छोड़कर दूसरे के मन्तव्य को भी समझना एवं यथासम्भव स्वीकार करना आचारमीमांसीय दृष्टि का अंग है।

व्यवहार की दृष्टि से अनेकान्त का ज्ञानमीमांसीय एवं आचारमीमांसीय पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण है। हम किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि का ज्ञान विविध दृष्टियों से करें तथा आचरण में सहिष्णुता एवं सद्भाव का पालन करें। परिवार में प्रायः जो मन–मुटाव, द्वन्द्वादि उत्पन्न होते हैं, उनके पीछे आग्रहवादी और ऐकान्तिक विचारधारा प्रमुख कारण होती है। मैं जो सोचता हूँ, समझता हूँ और कहता हूँ वही सत्य है, दूसरा यदि कुछ सोचता है, समझता और कहता है तो वह सही नहीं हो सकता, इस प्रकार का चिन्तन एकान्तवादी चिन्तन है।

विचारों में अनेकान्त के प्रयोग से सहिष्णुता का भाव विकसित होता है। सहिष्णुता से परिवार एवं समाज में सामंजस्य उत्पन्न होता है। परिवार के सदस्यों एवं मित्रों के साथ व्यवहार करते समय यदि हम अपने ही स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरों से अपेक्षा करते रहते हैं तथा उनकी पूर्ति न होने पर अपने एकांगी दृष्टिकोण के कारण उन्हें बुरा समझने लगते हैं तो इससे परस्पर भेद एवं तनाव का वातावरण बन जाता है।

अनेकान्तवादी व्यक्ति उदारवादी एवं समग्रवादी होता है। आग्रह या

एकान्तवाद के आधार पर आचरण करने वाला व्यक्ति अहंकारी, स्वार्थलोलुप और कषायभावों से अधिक ग्रस्त होता है। इसके विपरीत अनाग्रह एवं अनेकान्तवाद की दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति में विनम्रता, समता, सरलता, उदारता आदि अनेक गुणों का सद्भाव होता है। समाज में व्याप्त असंतोष, अन्धविश्वास, टकराव, पारस्परिक विद्वेष आदि के मूल में यदि चिन्तन किया जाए तो एकान्तवादी संकीर्ण दृष्टिकोण ही कारण रहा है। सत्य के प्रकाश में सोचा जाय तो सारे अन्धविश्वास टूट सकते हैं तथा पारस्परिक कलह–विद्वेष के अनेक मूल कारण समाप्त हो सकते हैं।

जीवन में एकान्तवाद विष एवं अनेकान्तवाद अमृत है। भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद के माध्यम से जीव के विवेक को जागृत किया है, जबकि एकान्तवाद में विवेक का द्वार बन्द हो जाता है। अनेकान्तवाद सम्यग्दर्शन का सूचक है तथा एकान्तवाद मिथ्यात्व का। अनेकान्तवाद में विचारों एवं भावों की व्यापकता है तथा एकान्तवाद में संकीर्णता। अनेकान्तवाद में निश्चयनय एवं व्यवहारनय का समन्वय है तथा एकान्तवाद में एक–दूसरे का विरोध। अनेकान्त सत्य का पथदर्शक है, जबकि एकान्त मिथ्या मान्यता के दृढीकरण का रूप है।

अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद कोई सन्देहवाद या शायदवाद नहीं है। आचार्य शंकर ने इसे सन्देहवाद के रूप में प्रस्तुत किया है, डॉ. राधाकृष्ण ने भी 'भारतीय दर्शन' में इसे सन्देहवाद या अनिश्चयवाद के रूप में प्रस्तुत किया है। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में भी इसे सन्देहवाद या शायदवाद के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जो उचित नहीं है। स्याद्वाद में 'स्यात्' शब्द निपात है जो किसी दृष्टि से सत्य के कथन का वाचक है। इसे 'कथंचित्' 'किसी अपेक्षा से ' 'एक दृष्टि से' आदि भी कहा जा सकता है।

एक फूल में वस्तुतः अनेक रंग होते हैं, किन्तु हमें वह गुलाबी, लाल या पीला अर्थात् एक ही रंग का दिखाई देता है। इसी प्रकार बाहर से भ्रमर काला दिखाई देता है, जबकि उसमें पाँचों रंग होते हैं। इस प्रकार सत्य कभी–कभी हमारे दृष्टिपथ में नहीं आता है। हमारे जानने–देखने की शक्ति सीमित है, इसलिए अज्ञात को अन्य ज्ञानी पुरुषों के वचनों से जानने का प्रयास करना चाहिए। **(सितम्बर, 2005)**

फ्री विल और जैनदर्शन

आधुनिक विकसित युग में फ्री विल (Free Will) अथवा फ्रीडम ऑफ विल (Freedom of Will) अर्थात् संकल्प की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त मानवीय मूल्यों की दृष्टि से अतीव महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार व्यक्ति विभिन्न विकल्पों में किसी एक का चुनाव करने के लिए स्वतन्त्र है। वह अपने संकल्पों से जीवन में अच्छा या बुरा करने में समर्थ है। इस सामर्थ्य के कारण व्यक्ति जैसा चाहे वैसा बन सकता है। फ्री विल का यह सिद्धान्त व्यक्ति के पुरुषार्थ की महत्ता को उजागर करता है। पाश्चात्त्य दार्शनिकों में सेण्ट थॉमस, स्काटस, ह्यूम, काण्ट, लाइबनिज आदि ने संकल्प की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर विस्तार से विचार किया है, जो इस तथ्य को सिद्ध करता है मानव को यह अनूठी विशेषता प्राप्त है कि वह अपनी इच्छाओं एवं संकल्पों को तर्क एवं विवेक से नियन्त्रित कर सकता है।

फ्री विल का यह सिद्धान्त जैनदर्शन को भी मान्य है, क्योंकि जैनदर्शन अपनी सत्-असत् इच्छाओं का कर्त्ता ईश्वर को न मानकर स्वयं आत्मा को स्वीकार करता है। जैन दर्शन की यह दृढ़ मान्यता है कि आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता एवं विकर्त्ता है- **'अप्पा कत्ता विकत्ता य,**

- **संकल्प की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त मानवीय मूल्यों की दृष्टि से अतीव महत्त्वपूर्ण है।**
- **व्यक्ति अपने संकल्पों से जीवन में अच्छा या बुरा करने में समर्थ है।**
- **यह सिद्धान्त व्यक्ति के पुरुषार्थ की महत्ता को उजागर करता है।**
- **जैनदर्शन में आत्मा का स्वातन्त्र्य सिद्धान्त फ्रीडम ऑफ विल के सिद्धान्त को तो अपने में समाहित करता ही है साथ ही कर्मसिद्धान्त के नियम को भी पुष्ट करता है।**
- **मनुष्य क्योंकि विवेकशील है, तर्क की क्षमता रखता है, कार्य के औचित्य एवं अनौचित्य का परीक्षण कर सकता है, इसलिए वह अपने संकल्पों का भी चुनाव या परिवर्तन कर सकता है।**

दुहाण य सुहाण य।' आत्मा का यह स्वातन्त्र्य सिद्धान्त फ्रीडम ऑफ विल के सिद्धान्त को तो अपने में समाहित करता ही है साथ ही कर्मसिद्धान्त के इस नियम को भी पुष्ट करता है कि जो जैसा करता है उसे तदनुरूप फल की प्राप्ति होती है। संकल्प कहें या विल, उसका अपना फल है। शुभ संकल्प का शुभ फल एवं अशुभ संकल्प का अशुभ फल होता है। व्यक्ति अपने संकल्प के अनुसार ही कार्य में प्रवृत्त होता है। पहले संकल्प या इच्छा होती है तथा फिर उसकी पूर्ति हेतु प्रयत्न किया जाता है। प्रयत्न के अनुसार कार्य का परिणाम आता है तथा संकल्प के अनुसार व्यक्ति के भावों का प्रवाह चलता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि ईश्वर को मानने वाले हों या न मानने वाले, सभी फ्रीडम ऑफ विल का अनुभव करते हैं।

- **फ्री विल की महत्ता होते हुए भी जैनदर्शन के अनुसार विवेक एवं सम्यग्दर्शन की लगाम का होना आवश्यक है।**
- **आत्मा यदि सन्मार्ग में स्थित है तो वह अपना मित्र है तथा उन्मार्ग में चल पड़ा है तो वह अपना शत्रु है। यही तथ्य फ्री विल के सिद्धान्त में समाया हुआ है।**
- **जो संकल्प सम्यग्दर्शन से युक्त होता है, उससे हमें कोई हानि नहीं, अपितु वह संकल्प हमारे जीवन को स्पष्ट दिशा-निर्देश के साथ एक नई ऊँचाई दे सकता है।**
- **संकल्प की उत्पत्ति व्यक्ति की भीतरी भूमिका के अनुसार होती है।**
- **जो व्यक्ति तर्क एवं विवेक का उपयोग किए बिना संकल्पों में जीते हैं उनके जीवन की कोई दिशा नहीं होती, वे अंधकार में ही जीते हैं।**
- **संकल्पों या इच्छाओं की स्वतंत्रता व्यक्ति को कब स्वच्छन्द बना दे, कहा नहीं जा सकता, इसलिए हर क्षण जागरूक रहने की आवश्यकता है।**

मनुष्य क्योंकि विवेकशील है, तर्क की क्षमता रखता है, कार्य के औचित्य एवं अनौचित्य का परीक्षण कर सकता है, इसलिए वह अपने संकल्पों का भी चुनाव या परिवर्तन कर सकता है। कोई विवाह करे या न करे, निर्णय लेने में स्वतंत्र है। इसी प्रकार कोई माँसाहार करे या न करे, उसकी स्वतंत्रता है, कोई हिंसा में कमी करे या न करे व्यक्ति के स्व-संकल्प पर निर्भर करता है। जीवन में संकल्पों की बड़ी भूमिका है। ये हमारे जीवन की पताका को कभी ऊँचा उठाते हैं तो कभी नीचे गिराते हैं। हमारे कुछ संकल्प तो सामाजिक व्यवस्थाओं से भी

नियन्त्रित होते हैं। यथा- चोरी, व्यभिचार आदि हम चाहते हुए भी खुले में नहीं कर सकते। इस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण भी अपना प्रभाव दिखाता है, किन्तु सबसे अधिक प्रभावी नियामक तो व्यक्ति स्वयं होता है।

फ्री विल की महत्ता होते हुए भी जैनदर्शन के अनुसार विवेक एवं सम्यग्दर्शन की लगाम का होना आवश्यक है। जैनदर्शन कहता है कि संकल्प की स्वतंत्रता होते हुए भी मनुष्य को उस संकल्प की पावनता एवं अपावनता का विचार करना चाहिए। वह संकल्प अपने विकास के लिए शुभ है या अशुभ? वह अपने जीवन के उत्थान में सहायक है या पतन में? वह अशान्ति एवं उद्वेग को उत्पन्न करने वाला है या उसे समाप्त करने में सहायक है? वह आत्महितकारी है या अहितकारी? वह कुत्सित भावनाओं को प्रदीप्त करने वाला है या उनका उन्मूलन करने वाला? अपने ज्ञान की उज्ज्वल किरणों की उपेक्षा करने वाला है या उनकी अभिवृद्धि करने वाला? इस प्रकार उस संकल्प की उपादेयता या उपेक्षणीयता का विचार सच्चे आत्म-विकास के लिए अपेक्षित है।

जैनदर्शन के अनुसार अपना विकास एवं पतन दोनों अपने हाथ में हैं। उत्तराध्ययन सूत्र कहता है- **"अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय-सुपट्ठिओ।"** अर्थात् आत्मा यदि सन्मार्ग में स्थित है तो वह अपना मित्र है तथा उन्मार्ग में चल पड़ा है तो वह अपना शत्रु है। यही तथ्य फ्री विल के सिद्धान्त में समाया हुआ है।

हमें अपने संकल्पों के प्रति सजग होना है उन्हें सम्यग्दर्शन के चक्षुओं से देखना है तथा उन्हें सम्यग्दर्शन से युक्त बनाना है। जो संकल्प सम्यग्दर्शन से युक्त होता है, उससे हमें कोई हानि नहीं, अपितु वह संकल्प हमारे जीवन को स्पष्ट दिशा-निर्देश के साथ एक नई ऊँचाई दे सकता है। वह हमें पूर्णज्ञान एवं परमशान्ति के दर्शन करा सकता है। किन्तु सम्यग्दर्शन के चक्षुओं का होना कठिन है। उस व्यक्ति के लिए और भी कठिन है जो वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थितियों में भयंकर रूप से आसक्त है तथा उन्हें अपने सुख का साधन मानता है। जो संकल्प शान्ति, मोक्षाभिलाषा, विरक्ति, अनुकम्पा और बन्ध-मोक्ष पर आस्था से युक्त होता है वह संकल्प सम्यग्दर्शन युक्त कहा जा सकता है।

जो व्यक्ति बाह्य वस्तुओं एवं परिस्थितियों में ही सुख मानता है तो स्वाभाविक है कि उसके संकल्प भी उसी की पूर्ति से सम्बद्ध होंगे। संकल्प की उत्पत्ति व्यक्ति की भीतरी भूमिका के अनुसार होती है। तथापि मानव नये संकल्प एवं विचार को उत्पन्न कर जीवन को नया मोड़ दे सकता है। यही मानव होने की विशेषता है। नये

संकल्प की उत्पत्ति तर्क या विवेक के आधार पर हो सकती है।

जो व्यक्ति तर्क एवं विवेक का उपयोग किए बिना संकल्पों में जीते हैं उनके जीवन की कोई दिशा नहीं होती, वे अंधकार में ही जीते हैं। धन एवं अन्य साधन होने से भी उन्हें वह संतोष नहीं होता जो ज्ञान के प्रकाश में लिए गए संकल्प से साधारण संत को हो सकता है। ज्ञान या विवेक का प्रकाश व्यक्ति तभी प्राप्त कर सकता है जब वह अपने संकल्पों की शुभता एवं अशुभता का निरीक्षण करना प्रारम्भ कर दे। हम हठाग्रह एवं एकांगी दृष्टिकोण को छोड़कर अनेकान्तवाद की व्यापकता को जीवन में स्थान देते हुए दूसरों को भी आत्मवत् भाव से देखना प्रारम्भ करें। यह भी देखें कि मेरे संकल्प दूसरों के लिए घातक तो नहीं? उनके शोषक तो नहीं? संकल्पों में उनके प्रति हिंसा का भाव तो नहीं? मैं सदैव दूसरे को दोषयुक्त एवं अपने को निर्दोष समझता हूँ, क्या मेरा ऐसा चिन्तन उचित है? मैं किस प्रकार की स्वतन्त्रता चाहता हूँ?

संकल्पों या इच्छाओं की स्वतंत्रता व्यक्ति को कब स्वच्छन्द बना दे, कहा नहीं जा सकता, इसलिए हर क्षण जागरूक रहने की आवश्यकता है। अपने शुभाशुभ संकल्पों का चौकीदार स्वयं को बनना है, जिस दिन विवेक के प्रकाश में यह कार्य प्रारम्भ हो जाएगा, उसी दिन हमारे सैकड़ों अशुभ संकल्प तिरोहित हो जायेंगे। शुभ संकल्प भी हमारे आत्मकल्याण एवं लोककल्याण में सहायक बनने लगेंगे।

मानवीय जीवन मूल्यों में यह एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है कि हम हमारे जीवन के विधायक या विध्वंसक बन सकते हैं। अशुभ संकल्प जहाँ विध्वंसक का कार्य करते हैं वहाँ शुभ संकल्प विधायक का कार्य करते हैं। अन्त में तो व्यक्ति को शुभ संकल्पों से भी मुक्त होना है, किन्तु अशुभ संकल्पों के निरोध एवं संकल्परहित होने के मध्य में शुभ संकल्पों का मार्ग अनिवार्य है।

'फ्रीडम ऑफ विल' मानव की विशेषता है, किन्तु उसका हम सदुपयोग करते हैं या दुरुपयोग, यह हमारे विवेक एवं मूल्यों की समझ पर निर्भर करता है।

(अप्रेल, 2006)

सप्त कुव्यसन

मनुष्य अपनी अच्छी या बुरी आदतों का स्वयं निर्माण करता है। किसी प्रवृत्ति को बार-बार करने से वह आदत बन जाती है, इनमें से कुछ आदतें व्यसन का रूप ग्रहण कर लेती हैं। आदत मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखती है, जैसे झूठ बोलने की आदत, निन्दा करने की आदत आदि। व्यसन बाह्य पदार्थों के सेवन से सम्बद्ध होता है। उदाहरण के लिए पढ़ने का व्यसन, खाने का व्यसन, घूमने का व्यसन आदि। कुछ व्यसन व्यक्ति के लिए बड़े घातक होते हैं, जिन्हें कुव्यसन कहा जा सकता है। ये कुव्यसन उन आदतों के सूचक हैं, जिनमें व्यक्ति बाह्य पदार्थों के सेवन से स्वयं की हानि करता है।

एक सदाचारी मनुष्य के लिए सात कुव्यसन त्याज्य हैं-(1) जुआ (2) चोरी (3) मांस-भक्षण (4) मदिरापान (5) परस्त्रीगमन (6) वेश्यागमन और (7) शिकार। ये सातों कुव्यसन मनुष्य को पथभ्रष्ट बनाते हैं, उसको ऐसे गर्त में धकेल देते हैं, जहाँ से निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। मनुष्य में इन व्यसनों के कारण हितबोध पर आवरण आ जाता है, बुद्धि कुंठित हो जाती है, आत्मविश्वास डगमगा जाता है। हितकारी वचन एवं सन्तों के उपदेश भी बहुधा बेअसर ही रहते हैं। इसलिए कहा गया है कि इन सप्त कुव्यसनों का त्याग बचपन में ही कर लेना चाहिए।

- **किसी प्रवृत्ति को बार-बार करने से वह आदत बन जाती है, इनमें से कुछ आदतें व्यसन का रूप ग्रहण कर लेती हैं।**
- **आदत मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखती है। व्यसन बाह्य पदार्थों के सेवन से सम्बद्ध होता है।**
- **कुव्यसन मनुष्य को पथभ्रष्ट बनाते हैं, उसको ऐसे गर्त में धकेल देते हैं, जहाँ से निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है।**
- **जो बचपन में इन कुव्यसनों का त्याग नहीं कर पाये हैं, उन्हें किशोरवस्था में तो अवश्य ही सद्‌गुरु के मुख से दृढ़ संकल्प के साथ कुव्यसनों का त्याग कर लेना चाहिए।**

उनका निरोधात्मक उपाय उपचारात्मक उपाय की अपेक्षा अधिक कारगर है। जो बचपन में इन कुव्यसनों का त्याग नहीं कर पाये हैं, उन्हें किशोरवस्था में तो अवश्य ही सद्गुरु के मुख से दृढ संकल्प के साथ कुव्यसनों का त्याग कर लेना चाहिए। जो युवावस्था में प्रवेश के पूर्व इनका त्याग नहीं करते वे कब डाँवाडोल होकर व्यसनग्रस्त हो जाएँ, कुछ कहा नहीं जा सकता। एक बार कुसंगति के कारण इन व्यसनों के चक्कर में आ जाने के पश्चात् व्यक्ति न स्वयं के वश में रहता है, न परिवार जनों के हित-वचनों को सुनता है, और न ही गुरुजनों के हितबोध पर ध्यान देता है। वह फिर सद्गुरुओं के सम्पर्क से कतराने लगता है, घर-वालों को अपना विरोधी समझने लगता है तथा अपने ही जीवन के साथ खिलवाड़ करने में अपनी महत्ता समझता है। वह सत्-असत् में भेद नहीं कर पाता। अपितु असत् को ही सत् समझता रहता है।

व्यसन का अर्थ है विपत्ति। ये कुव्यसन विपत्ति के कारण बनते हैं।

जुआ या द्यूत अब केवल ताश-चौपड़ में नहीं, अपितु विभिन्न व्यापार-धन्धों में भी है। सट्टा जुए का ही रूप है।

इन सप्त कुव्यसनों का त्याग करने पर श्रावक बनने की भूमिका प्राप्त होती है। व्रताराधन, तपाराधन आदि की क्रिया व्यसन-त्याग के अनन्तर ही आगे बढ़ती है।

कुव्यसनों का त्याग अपने लिए, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के लिए हितकारी है।

व्यक्ति, परिवार, समाज एवं पर्यावरण की स्वच्छता, संरक्षा एवं सुरक्षा के लिए सप्त कुव्यसनों का त्याग राष्ट्रीय कार्यक्रमों का अंग बन जाए तो कितना सुखद हो।

कुव्यसन मानव का सभी प्रकार से अधःपतन करते हैं। इसीलिए जैनाचार्यों ने जैनों को इन व्यसनों से बचने की महती प्रेरणा की है। मध्यकाल में जब ये व्यसन प्रभावी बनते जा रहे थे, तब जैन सन्तों ने समाज की रक्षा के लिए इनके त्याग की प्रेरणा कर सुरक्षा का महान् कार्य सम्पन्न किया। आज भी इन कुव्यसनों से समाज का कुछ वर्ग ग्रस्त है। ये कुव्यसन आध्यात्मिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, चारित्रिक आदि अनेक दृष्टियों से हानिकारक सिद्ध हो चुके हैं। फिर भी अज्ञान, सुखासक्ति, कुसंगति, उपेक्षा आदि कारणों से कुव्यसनों की ओर मनुष्य आकर्षित हो जाता है एवं फिर उनके जाल से आसानी से मुक्त नहीं हो पाता है। आगमों में सप्त कुव्यसनों के नाम नहीं आये हैं,

किन्तु उत्तरकाल में आचार्यों ने सामाजिक परिवेश को देखकर इन कुव्यसनों की गणना कर समाज पर बहुत बड़ा उपकार किया है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के आचार्यो ने इन कुव्यसनों की ओर ध्यान दिलाकर इन्हें छोड़ने हेतु प्रेरणा की है। वसुनन्दि श्रावकाचार में इन कुव्यसनों की गणना करते हुए कहा गया है–

जूअं मज्जं मंसं वेस्सा, पारद्धि चोर परयारं।
दुग्गइगमणस्सेदाणिं हेउभूदाणि पावाणि।।

द्यूत, मद्य, मांस, वेश्यागमन, शिकार, चोरी और परस्त्री गमन– ये दुर्गति में ले जाने वाले पाप हैं। आचार्यों ने इन्हें त्यागने हेतु श्रावकों को सब तरह से प्रतिबोध देने का प्रयत्न किया। इन व्यसनों से इहलोक एवं परलोक दोनों बिगड़ते हैं। कर्म–बन्धन के ये बड़े हेतु हैं। व्यसन कदाचित् विद्या का भी हो सकता है, किन्तु जो व्यसन जीवन का अधःपतन करते हैं, वे ही कुव्यसन की श्रेणि में आते हैं। आचार्यों ने इन्हें संक्षेप में 'व्यसन' कहा है। वे सभी बुरी आदतें एवं प्रवृत्तियाँ कुव्यसन के अर्न्तगत आती हैं, जिनका मनुष्य दास बनकर अपना सब तरह से पतन करता है। सामाजिक दृष्टि से भी वह निन्दनीय एवं वर्जनीय बन जाता है। कुव्यसनों से एक नहीं अनेक हानियाँ हैं। व्यसन का अर्थ है विपत्ति–व्यसनं विपत्तिः। ये कुव्यसन विपत्ति के कारण बनते हैं।

आचार्यों के द्वारा विगत एक हजार वर्षों से इन कुव्यसनों का सेवन न करने की प्रेरणा की जा रही है, जिसका फल भी हमारे समक्ष है। आज के भौतिक एवं वैज्ञानिक युग में भी जैन समाज प्रायः इन कुव्यसनों के स्थूल–सेवन से बचा हुआ है एवं धार्मिकता की ओर अग्रसर है। व्रताराधन, तपाराधन आदि की क्रिया व्यसन–त्याग के अनन्तर ही आगे बढ़ती है। फिर भी सर्वेक्षण किया जाय तो आज भी जैन समाज में अनेक किशोर, युवक एवं प्रौढ़ इन व्यसनों से ग्रस्त हैं। इन्हें सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न अपेक्षित है तथा नई पीढ़ी को इनसे बचने के लिए संकल्प कराने की आवश्यकता है।

ये जो सप्त कुव्यसन गिनाये गये हैं उनमें कतिपय कुव्यसनों के नये रूप विकसित हुए हैं। उनसे भी समाज को बचने की आवश्यकता है। जुआ या द्यूत अब केवल ताश–चौपड़ में नहीं, अपितु विभिन्न व्यापार–धन्धों में भी है। क्रिकेट आदि प्रसिद्ध खेलों में भी शर्तपूर्वक जुआ लगाया जाता है। सट्टा जुए का ही रूप है। 'जुआ' खेलने वाला लाभ के वशीभूत होकर जुआ खेलता है तथा वही उसकी बर्बादी का निमित्त भी बन जाता है। जुआ अनिश्चित खेल है। इसमें कभी जीत होती है तो कभी

हार। अतः शर्त के साथ जुआ खेलना, सट्टा लगाना आदि विवेकशील सदाचारी के लिए सर्वथा त्याज्य है। शर्त आदि के बिना किया गया साधारण व्यापार जुआ में नहीं आता। सट्टापूर्वक शेयर में निवेश 'जुआ' में आता है, किन्तु साधारण निवेश जुआ की श्रेणि में नहीं आता। तथापि जोखिम भरे धन्धों से दूर रहकर व्यर्थ की चिन्ता एवं आर्त्तध्यान से बचा जा सकता है।

चोरी का भी एक चस्का होता है। जो इसमें एक बार सफल हो जाता है वह बार-बार चौर्य कर्म में प्रवृत्त होता है। जैनों में चोरी के स्थूल एवं सूक्ष्म स्तर पर विभिन्न रूप प्रचलित हैं। कालाबाजारी, मिलावट, गलत नापतोल, तस्करी, खाता-बही का अनुचित संचालन, कर-चोरी, चोरी में सहयोग आदि अनेक रूप आज दृष्टिगोचर होते हैं। व्यक्ति के द्वारा अनुचित रूप से प्राप्त लाभ एवं उसके पश्चात् हुए लोभ के कारण चौर्य कर्म वृद्धिंगत होता रहता है। जैन बन्धु चोर बनकर किसी के यहाँ डाका नहीं डालते, किन्तु अनुचित साधनों के द्वारा चौर्यकर्म में लिप्त रहते हैं। इसको जिस दिन वे पूरी तरह बुरा समझ लेंगे, उस दिन इस बुरी प्रवृत्ति से भी मुक्त हो जायेंगे।

मांस-भक्षण, मदिरापान, परस्त्री-गमन, वेश्यागमन एवं शिकार के कुव्यसनों पर प्रायः जैन समाज का काफी नियन्त्रण है। मांसभक्षी जैन विरले ही मिलेंगे। किन्तु अभी तक यह दावा नहीं किया जा सकता कि जैन परिवार के लोग मांस-भक्षी नहीं हैं। होटलों पर जाकर अण्डे, मछली एवं मांस का सेवन करने वाले युवा मिल जायेंगे। विभिन्न खाद्य-पदार्थों एवं औषधियों में आज जिस प्रकार चर्बी एवं रक्त का प्रयोग हो रहा है उससे साधारण गृहस्थ तो क्या, साधु-साध्वी भी नहीं बच पा रहे हैं। इस ओर चेतना जाग्रत करने की आवश्यकता है। टॉफी जैसे पदार्थ भी बछड़ों के मांस एवं चर्बी से युक्त देखे जा रहे हैं।

मदिरापान के स्थान पर 'मद्य' या 'नशाकारी' वस्तुओं का सेवन कहना अधिक उपयुक्त होगा। मात्र मदिरा ही नशा उत्पन्न नहीं करती, आज बीसियों प्रकार के नशाकारक द्रव्य हैं, यथा-हेरोइन, अफीम, भांग, गांजा, ड्रग्स आदि। ड्रग्स की लत बहुत दुःखदायी है। यह शराब से भी बढ़कर है। ड्रग्स के चंगुल में एक बार आ जाने के पश्चात् वे जान लेवा बन जाती हैं। इससे किशोर एवं युवापीढ़ी को बचाने की महती आवश्यकता है। नशे का एक साधन 'गुटखा' है। इसकी आदत हो जाने पर इसके बिना रहा नहीं जाता। बहुत से युवा शौक ही शौक में इसकी लत से ग्रस्त हो रहे हैं। 'गुटखा' को छोड़ना कोई कठिन नहीं है, किन्तु व्यक्ति की संकल्पशक्ति की दृढ़ता का होना अपेक्षित है।

परस्त्रीगमन एवं वेश्यागमन में सूक्ष्म भेद है। परस्त्रीगमन से दो परिवारों में कलह एवं विखण्डन की स्थिति बनती है। कभी एक-दूसरे की हत्या के प्रसंग भी उपस्थित हो जाते हैं। यदि अन्य स्त्री विधवा, परित्यक्ता या कुमारी है तो भी पारिवारिक एवं सामाजिक दृष्टि से विकट स्थिति खड़ी हो जाती है। इन दोषों से बचकर कोई वेश्यागमन की ओर प्रवृत्त हो तो उसे भी जैनाचार्यों ने दोषपूर्ण माना है। इससे भी धन, तन एवं चरित्र की हानि होती है। आज सरकारी स्तर पर भी वेश्या-व्यवसाय को बुरा समझा जाता है और इस पर रोक भी लगाई गई है, किन्तु अभी भी पूरी तरह समाप्त नहीं हो सका है। मनुष्य यदि परस्त्रीगमन एवं वेश्यागमन पर पूरी तरह नियन्त्रण कर ले तो एड्स जैसी भंयकर बीमारियों के प्रसरण पर सहज ही नियन्त्रण पाया जा सकता है।

शिकार का प्रचलन जितना प्राचीन समय में था आज उतना नहीं है, तथापि हिंसा एवं वध के साधनों का आज अधिक विकास हो गया है। कत्लखानों के माध्यम से शिकार का विशाल स्तर पर प्रचलन हो गया है। जंगली जानवरों की भी कई प्रजातियाँ लुप्त हो गई हैं। जैन भाई स्वयं पशु-पक्षियों का वध नहीं करते, यह अच्छा है, किन्तु मोरों, हरिणों, नील गायों आदि का शिकार आज भी हो रहा है, उस पर रोक लगाने की आवश्यकता है।

इन सप्त कुव्यसनों का त्याग करने पर श्रावक बनने की भूमिका प्राप्त होती है। कुव्यसन-त्यागी की मनोभूमि व्रताराधन के लिए उपयुक्त रहती है। कुव्यसनों का त्याग अपने लिए, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के लिए हितकारी है। इनके त्याग से अनेक समस्याओं का निराकरण किया जा सकता है।

व्यक्ति, परिवार, समाज एवं पर्यावरण की स्वच्छता, संरक्षा एवं सुरक्षा के लिए सप्त कुव्यसनों का त्याग राष्ट्रीय कार्यक्रमों का अंग बन जाए तो कितना सुखद हो। भगवान महावीर के 2600 वें जन्म-कल्याण वर्ष में जैनों को चाहिए कि वे सप्त कुव्यसनों के त्याग को जैनों तक सीमित न रखकर सम्पूर्ण मानवजाति के कल्याण हेतु जन-जन में अभियान के रूप में प्रचारित करें, तथा संकल्प-पत्र तैयार कराकर भरावें। इस कार्य से प्राणिजगत् की महती सेवा होगी। यह कार्य जैन का नाम लिए बिना सम्पन्न किया जाय तो जनता का बहुभाग इसमें सहयोगी बन सकता है। भारत में अनेक धर्म हैं, किन्तु कई धर्म जुआ एवं चोरी को जहाँ त्याज्य बताते हैं वहाँ उनमें मदिरा एवं मासं भक्षण वर्जित नहीं है। ऐसी स्थिति में जैनों के द्वारा किया गया प्रयत्न सार्थक प्रयत्न हो सकता है। **(जनवरी, 2001)**

दृढ़श्रद्धा और कट्टरता

दृढ़श्रद्धा और कट्टरता में सूक्ष्म भेद है। श्रद्धा में दृढता जहाँ मानव के आत्मिक उत्थान में सहायक है वहाँ कट्टरता उसे डुबाने वाली एवं धर्म को बदनाम करने वाली होती है। कट्टरता के आधार पर ही साम्यवादियों ने धर्म को अफीम के नशे की संज्ञा दी है। कट्टरता में विवेक नहीं उन्माद होता है, जो धर्म को एवं उनके प्रवर्तकों को कलंकित करता है, जबकि धर्म के प्रति दृढश्रद्धा व्यक्ति की विषम परिस्थितियों में भी रक्षक होती है। मनुस्मृति में कहा गया है- धर्मो रक्षति रक्षितः। दशवैकालिक सूत्र में धर्म उत्कृष्ट मंगल के रूप में निरूपित है।

- **श्रद्धा में दृढ़ता जहाँ मानव के आत्मिक उत्थान में सहायक है वहाँ कट्टरता उसे डुबाने वाली एवं धर्म को बदनाम करने वाली होती है।**
- **यदि कोई धर्म अपने देव एवं गुरुओं की उपासना में व्यक्ति को मदान्ध बनाकर दूसरों के प्रति घृणा एवं द्वेष के बीज बोता है तो वह धर्म का नहीं धार्मिकों का दोष है।**
- **आत्म-विकास के लिए धर्म पर दृढ़ श्रद्धा आवश्यक है।**
- **कोई साधु-साध्वी शिथिलाचारी हो जाएँ तो उनसे द्वेष किए बिना उन्हें आचार में दृढ़ करने का समुचित उपाय करना समीचीन है।**

उत्कृष्ट मंगलकारी धर्म कभी मानवता का विरोधी नहीं हो सकता। वह तो मानवता के लक्षणों की आधारभूमि में अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित होता है। मानवता से यहाँ आशय है एक मानव का दूसरे मानव के प्रति सद्भावनापूर्ण व्यवहार। यदि कोई धर्म अपने देव एवं गुरुओं की उपासना में व्यक्ति को मदान्ध बनाकर दूसरों के प्रति घृणा एवं द्वेष के बीज बोता है तो वह धर्म का नहीं धार्मिकों का दोष है। वे अपने देव एवं गुरुओं के प्रति भी उसी प्रकार राग एवं आसक्ति से गृद्ध हो जाते हैं, जैसे अपनी सम्पत्ति या जमीन जायदाद पर।

जैन धर्म तो वीतराग देव की उपासना का धर्म है। यह वीतराग बनने का

संदेश देता है। अतः उनके उपदेशों को जीवन में उतारना ही उनकी सही उपासना है। वे दूसरों के प्रति ईर्ष्या-द्वेष की बात नहीं कहते। भगवान महावीर का गोशालक के प्रति भी वही प्रेम था जो गौतम गणधर के प्रति। वे सबका हित चाहते थे।

आत्म-विकास के लिए धर्म पर दृढ़ श्रद्धा आवश्यक है। सुदेव एवं सुगुरु पर भी आस्था अनिवार्य है, क्योंकि उन्हीं से सन्मार्ग पर प्रवृत्ति का प्रकाश प्राप्त होता है। इस धर्म प्रकाश से व्यक्ति स्व-विकास के साथ दूसरों के भी धर्म-कार्यों में, जो किसी भी सम्प्रदाय से संबंधित हो, सहयोग कर अपनी धर्म-भावना को पुष्ट कर सकता है। किन्तु जब इसी धर्म भावना के साथ दुराग्रह, अनुदारता, द्वेष आदि तत्त्व जुड़ जाते हैं तो वह कट्टरता में परिणत हो जाती है।

धर्म पर दृढश्रद्धा न होने पर कोई साधु-साध्वी सन्मार्ग से भटक सकते हैं। शैलक राजर्षि का ज्ञाताधर्मकथा सूत्र के पाँचवें अध्ययन में वर्णन आता है। वे अरिहन्त अरिष्टनेमि की शिष्य परम्परा में थावच्चापुत्र के प्रशिष्य एवं शुक परिव्राजक के शिष्य बने। एकदा रोगाक्रान्त होने पर चिकित्सा के साथ ही उनमें शिथिलता ने प्रवेश कर लिया। विपुल अशन, पान, खादिम, स्वादिम एवं मद्यपान में मूर्च्छित, गृद्ध एवं आसक्त हो गए। प्रमत्तता उन पर हावी हो गई। उनको पुनः साधुमर्यादा में स्थिर करने का कार्य पंथक अनगार ने किया। कार्त्तिक चातुर्मासिक प्रतिक्रमण के समय उन्होंने शैलक मुनि को मस्तक झुकाकर चरणस्पर्श किया। शैलक में तभी एक परिवर्तन घटित हुआ। वे पंथक के स्मरण दिलाए जाने पर अनुप्रेक्षा करने लगे और धर्माचरण में सुस्थिर हो गए। तब उनमें पुनः भावान्वित आचरण इतना उच्च हुआ कि वे उसी भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। उनकी घटना से यह शिक्षा मिलती है कि यदि अपने संघ, गच्छ, सम्प्रदाय आदि में कोई साधु-साध्वी शिथिलाचारी हो जाएँ

- **कोई भी धर्म हो उसमें कट्टरता दूसरों के प्रति कटुता का रूप ग्रहण कर लेती है, जबकि धर्म की सही समझ के साथ जो दृढ़ता होती है वह दूसरों के प्रति भी सद्भाव एवं प्रेम का व्यवहार सुनिश्चित करती है।**
- **कट्टरता में सत्य के अन्वेषण की दृष्टि नहीं होती।**
- **कट्टरता व्यक्ति को धर्म के सद्गुणों से दूर कर देती है और धर्मश्रद्धा उन सद्गुणों का आधान एवं रक्षण करती है।**
- **कट्टरता जहाँ दूसरों को चुभती है वहाँ धर्मश्रद्धा दूसरों के लिए प्रेरणा एवं आकर्षण का केन्द्र होती है।**

तो उनसे द्वेष किए बिना उन्हें आचार में दृढ करने का समुचित उपाय करना समीचीन है। यह धर्म में कट्टरता का नहीं दृढश्रद्धा का रूप है। अपने गण या गच्छ में यदि कोई साधु-साध्वी शिथिल होते प्रतीत होते हों तो उनकी निन्दा, हीलना किए बिना उन्हें धर्म के महत्त्व की सम्यक् प्रतीति करायी जानी चाहिए।

मेघकुमार सुकुमार राजकुमार थे। भगवान् महावीर के पास वे दीक्षित हो गए। प्रथम रात्रि में साधुओं के गमनागमन आदि के कारण वे किंचित् भी निद्रा नहीं ले सके। यह भी विचार आया- ''पहले श्रमण निर्ग्रन्थ मेरा आदर करते थे, किन्तु जब से मैंने मुंडित होकर श्रमण-दीक्षा अंगीकार की है, तब से साधु मेरा आदर नहीं करते।'' अतः मेघकुमार के मन में पुनः गृहवास अंगीकार करने का विचार आता है। प्रातःकाल भगवान् महावीर के पास जब गृहवास की भावना से मेघमुनि पहुँचे तो भगवान ने उनके पूर्वभव का स्मरण करा दिया, जिसमें उन्होंने हाथी के भव में जीवों की प्राणरक्षा के निमित्त एक पैर ऊपर उठाए रखा था। जातिस्मरण ज्ञान होते ही मेघमुनि की धर्मश्रद्धा दृढ हो गई।

ज्ञाताधर्मकथासूत्र के अध्ययन 7 में कहा है कि जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी प्रव्रजित होकर पंच महाव्रतों का त्याग करते हैं, उन्हें भंग करते हैं, वे निश्चित ही बहुत से श्रमणों, श्रमणियों, श्रावकों एवं श्राविकाओं के द्वारा हीलनीय होते हैं तथा जो पंच महाव्रतों को निरन्तर संवर्धित करते हैं वे श्रमण-श्रमणियों एवं श्रावक-श्राविकाओं के द्वारा प्रशंसनीय होते हैं।

धर्म में दृढश्रद्धा के उदाहरण हैं श्रमणोपासक कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकौलिक एवं महाशतक। देवों द्वारा उपसर्ग उपस्थित किए जाने पर भी कामदेव श्रावक धर्म में दृढ रहा। भ्रमित कर देने वाले अत्यन्त विपत्तिमय उपसर्ग उपस्थित किए जाने से व्रत में किंचित् दोष लगा तो प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि करके चुलनी पिता, सुरादेव एवं चुल्लशतक पुनः धर्म में दृढ हो गए। भयंकर उपसर्गों में भी वे धर्मश्रद्धा से विचलित नहीं हुए। महाशतक को पत्नी रेवती ने कितना तंग किया, किन्तु उसकी दृढता अप्रतिम थी। साधु-साध्वियों एवं श्रावक-श्राविकाओं में इस प्रकार की त्यागवृत्तिपरक धर्मश्रद्धा हो तो वे स्वयं अपने जीवन का उद्धार कर सकते हैं तथा जिनशासन को भी दीप्तिमान बना सकते हैं।

कोई भी धर्म हो उसमें कट्टरता दूसरों के प्रति कटुता का रूप ग्रहण कर लेती है, जबकि धर्म की सही समझ के साथ जो दृढता होती है वह दूसरों के प्रति भी सद्भाव एवं प्रेम का व्यवहार सुनिश्चित करती है।

'कट्टरता' हेय है, क्योंकि इसमें हिंसा का भाव एवं विवेक का नाश अपनी जड़ें जमा लेता है। अन्य धर्म-दर्शन के प्रति विरोध एवं द्वेष का भाव होने से कट्टरतावादियों ने कत्लेआम मचाया है। मुस्लिम, ईसाई आदि धर्मों में भी ये घटनाएँ होती रही हैं। कट्टरता में सत्य के अन्वेषण की दृष्टि नहीं होती, उसमें 'मेरा सो सत्य' का भाव होता है। कट्टरता को दूसरे शब्दों में धर्मान्धता, धर्मोन्माद आदि शब्दों से पुकारा जा सकता है। 'पण्णाए समिक्खए धम्मं' (प्रज्ञा से धर्म को देखे) का भाव वहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता। धर्मश्रद्धा एवं कट्टरता में जो प्रमुख भेद है, वह यह कि कट्टरता व्यक्ति को धर्म के सद्गुणों से दूर कर देती है और धर्मश्रद्धा उन सद्गुणों का आधान एवं रक्षण करती है। कट्टरता प्रज्ञा, विवेक एवं सदाचरण के अभाव में भी व्यक्ति को धार्मिकता का बाना पहना सकती है, किन्तु इससे व्यक्ति वस्तुतः धार्मिकता के आन्तरिक लक्षणों से ओतप्रोत नहीं हो पाता। यदि पहले धार्मिकता का कुछ आस्वादन हुआ भी है तो वह राग एवं आसक्ति के विष से दूषित हो जाता है। फिर अपने धर्म की उन्नति अन्य के धर्म की जड़ें खोखली करने में नज़र आती है।

विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय, मत, पंथ आदि संसार में हैं और रहेंगे, किन्तु सबकी भलाई इसी में है कि वे अपने को अपने आचरण से समृद्ध बनायें। दूसरों के प्रति द्वेष एवं विरोध का भाव न रखें। कट्टरता जहाँ दूसरों को चुभती है वहाँ धर्मश्रद्धा दूसरों के लिए प्रेरणा एवं आकर्षण का केन्द्र होती है। **(नवम्बर, 2005)**

संघ–समर्पण

जैनधर्म में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका को संघ कहा गया है। ये चारों अहिंसा, संयम और तप रूप धर्ममार्ग पर चलकर स्व–पर कल्याण में निरत रहते हैं। संघ की महिमा एवं गरिमा की प्रशस्ति नन्दीसूत्र के प्रारम्भ में विविध उपमाओं से गायी गई है। संघ को नगर के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है–

गुण-भवणगहण! सुय-रयणभरिय! दंसणविसुद्धरत्थागा।
संघनगर! भद्दं ते, अखंड-चारित्त-पागारा।।

जैनधर्म में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका को संघ कहा गया है।

जैन धर्म में 'संघ' शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर बढ़ने वाले त्यागियों के समुदाय के लिए हुआ है।

संघ में संयम, तप, सम्यक्त्व, शील, स्वाध्याय आदि का महत्त्व प्रतिष्ठित किया गया है।

गुणरूपी भवनों से व्याप्त, श्रुतरूपी रत्नों से पूरित, दर्शन–विशुद्धि रूपी रथ्याओं और अखण्ड चारित्र रूपी परकोटे वाले हे संघनगर! तुम्हारा कल्याण हो।

सद्गुणों, श्रुतरत्नों, दर्शनविशुद्धि एवं धर्म के निरतिचार पालन से युक्त संघ के कल्याण की कामना इस पद्य में की गई है। संघ को रथ, पद्म, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, मेरुपर्वत आदि का रूपक देते हुए उसमें संयम, तप, सम्यक्त्व, शील, स्वाध्याय आदि का महत्त्व प्रतिष्ठित किया गया है। संघ को पद्म (कमल) के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है–

कम्मरय-जलोह-विणिग्गयस्स, सुय-रयण-दीहनालस्स।
पंचमहव्वय - थिरकन्नियस्स, गुण-केसरालस्स।।
सावगजण-महुअरि-परिवुडस्स, जिणसूरतेयबुद्धस्स।
संघ-पउमस्स भद्दं, समणगण-सहस्सपत्तस्स।।

कर्मरज रूपी सरोवर से बाहर निकले हुए अर्थात् निर्लिप्त, श्रुतरत्न रूपी दीर्घ

कमल नाल वाले, पाँच महाव्रत रूपी स्थिर कर्णिका वाले, उत्तरगुण रूपी पराग वाले, श्रावक-जन रूपी मधुकरों से परिवृत्त (घिरे हुए), तीर्थंकर रूपी सूर्य की तेजस्विता से विकसित तथा श्रमणगण रूपी सहस्र-पंखुडी वाले संघ-पद्म का कल्याण हो।

तात्पर्य यह है कि धर्म संघ कर्म-बन्धन की प्रवृत्तियों में न पड़कर उनसे निर्लिप्त रहता है, शास्त्र-स्वाध्याय को आधार बनाता है, श्रमण-समुदाय पंच महाव्रतों का पालन कठोरता से करता है, उनके सद्गुणों की सुगन्ध से श्रावक वर्ग आकर्षित होता है तथा श्रमणों का विकास तीर्थंकर प्रभु के द्वारा उपदिष्ट धर्म के अनुरूप होता है।

'संघ' शब्द का प्रयोग संगठन के अर्थ में भी होता है यथा-छात्र संघ, कर्मचारी संघ, स्वयं सेवक संघ आदि। किन्तु जैन धर्म में 'संघ' शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर बढ़ने वाले त्यागियों के समुदाय के लिए हुआ है। धर्मसंघ के चारों अंग त्याग-मार्ग का अनुसरण करते हैं। साधु और साध्वी सर्वविरति रूप सर्व त्याग के पथ पर चलते हैं तथा श्रावक और श्राविका देशविरति रूप आंशिक-त्याग को अपनाते हैं।

संघ का अपना वातावरण होता है। इसमें राग-द्वेष एवं मोह को कम करने एवं जीतने की प्रेरणा मिलती है। आध्यात्मिक उन्नति एवं आत्म-विशुद्धि में

- **साधु और साध्वी सर्वविरति रूप सर्व त्याग के पथ पर चलते हैं तथा श्रावक और श्राविका देश विरति रूप आंशिक-त्याग को अपनाते हैं।**
- **आध्यात्मिक उन्नति एवं आत्म-विशुद्धि में संघ सहायक होता है।**
- **संघ में धन की नहीं, धर्म की महत्ता है।**
- **जिस संघ में राग-द्वेष एवं विषय-कषायों को बढ़ावा मिलता है, वह संघ धर्मसंघ नहीं रहता।**
- **संघ में व्यक्ति अपने को मुख्य नहीं समझता, संघ को प्रधानता देता है।**
- **संघ में काम करते समय व्यक्ति को अपने अहं को तिलांजलि देनी होती है।**
- **समाज जहाँ लौकिक व्यवस्थाओं से जुड़ा होता है, वहाँ संघ आध्यात्मिक लक्ष्य को लेकर चलता है।**
- **संघ व्यक्ति की साधना में सहायक एवं प्रेरक निमित्त बनता है।**
- **जीवन्त संघ वह है जिसमें अपने से अधिक गुणवान् को देखकर प्रमोद होता है तथा उसके गुणों को अपने जीवन में आत्मसात् करने की प्रेरणा जगती है।**

संघ सहायक होता है। इसलिए संघ भी प्रणम्य होता है– 'णमो संघस्स।' तीर्थंकरों ने धर्मचक्र के प्रवर्तन हेतु ऐसी व्यवस्था की है, जिसमें त्यागमार्ग ही राजमार्ग है और धर्मचक्र में आरूढ प्रत्येक व्यक्ति त्याग मार्ग पर चलकर अनन्त सुख के अजस्र–स्रोत को प्राप्त कर सकता है।

संघ में धन की नहीं, धर्म की महत्ता है। राग–द्वेष एवं विषय–कषायों की नहीं, अपितु इनके त्याग की महत्ता है। जिस संघ में राग–द्वेष एवं विषय–कषायों को बढ़ावा मिलता है, वह संघ धर्मसंघ नहीं रहता। वह तो फिर छात्रसंघ आदि के समान भौतिक लालसाओं की पूर्ति वाला संघ रह जाता है। जीवन्त संघ वह है जिसमें अपने से अधिक गुणवान् को देखकर प्रमोद होता है तथा उसके गुणों को अपने जीवन में आत्मसात् करने की प्रेरणा जगती है। वहाँ ईर्ष्या एवं द्वेष का स्थान प्रेम एवं मैत्री भाव ग्रहण कर लेते हैं। संघ में व्यक्ति अपने को मुख्य नहीं समझता, संघ को प्रधानता देता है।

- **साधनाशील व्यक्तियों का समूह ही संघ है एवं वही उसकी सम्पत्ति है।**
- **धर्म संघ के प्रति व्यक्ति का समर्पण जितना बढ़ता जाता है, उतना ही उसमें सद्‌गुणों का आधान होता जाता है।**
- **संघ समर्पण के पश्चात् मानापमान में समभाव का अभ्यास करना होता है।**
- **जो सतत एक लक्ष्य से संघ हितार्थ कार्य करता है, उसी से संघ आगे बढ़ता है।**

वही संघ निर्विघ्न रूप से प्रगतिमान होता है, जिसमें व्यक्ति अपने स्वार्थों को गौण और संघ के हित को मुख्य समझता है। जब स्वार्थ मुख्य हो जाते हैं तो संघ विघटित होने लगता है। संघ में काम करते समय व्यक्ति को अपने अहं को तिलांजलि देनी होती है। अहं के कारण ही परस्पर टकराव होता है, जिससे संघ का हित गौण एवं आत्म–प्रतिष्ठा की लड़ाई मुख्य बन जाती है।

संघ का स्वरूप समाज से भिन्न है। समाज जहाँ लौकिक व्यवस्थाओं से जुड़ा होता है, वहाँ संघ आध्यात्मिक लक्ष्य को लेकर चलता है। समाज में भी सबकी भावनाओं एवं योग्यता का आदर किया जाता है, वहाँ भी त्यागवृत्ति अपेक्षित होती है, किन्तु वह सब समुचित लौकिक व्यवस्थाओं के संचालन से जुड़ी होती है, जबकि संघ में सामाजिक समरसता के साथ नैतिक आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता होती है।

धर्म का आराधन वैसे व्यक्ति–व्यक्ति का पृथक् है। जो जितनी अधिक

तन्मयता, क्षमता एवं यतना के साथ धर्माराधन करता है वह उतना ही अधिक लाभान्वित होता है। व्यक्ति को स्वयं अपने कर्मास्रव का निरोध एवं कर्म-निर्जरा करनी होती है।

पुरुषार्थ की अपेक्षा आत्मा या व्यक्ति का स्वातन्त्र्य स्वीकार करने के बावजूद जैन धर्म-दर्शन में संघ की महत्ता है। संघ व्यक्ति की साधना में सहायक एवं प्रेरक निमित्त बनता है। संघ के माध्यम से संवर एवं निर्जरा की साधना प्रोत्साहित होती है। यही संघ का महत्त्व है। साधनाशील व्यक्तियों का समूह ही संघ है एवं वही उसकी सम्पत्ति है। यदि कोई व्यक्ति भौतिक समस्याओं के कारण संवर-निर्जरा की साधना में कदम नहीं बढ़ा पाता है तो उसकी समस्याओं का समाधान भी संघ को अपनी मर्यादा में सोचना चाहिए। संघ के सदस्य को यदि समस्या निवारण में प्रेमपूर्वक सहयोग मिलता है तो वह संघ का आभारी होता है तथा उसमें भी धर्म-क्रिया के प्रति रुचि एवं निष्ठा को बल मिलता है।

संघ का कार्य निन्दा-विकथा नहीं है। निन्दा-विकथा से राग-द्वेष बढ़ते हैं तथा संघ धर्म-साधना के मूल उद्देश्य से भटक कर समाज के ढाँचे के रूप में ढलता जाता है। अर्थात् वह लोक व्यवस्था को ही संघ का स्वरूप समझने लगता है।

धर्म संघ के प्रति व्यक्ति का समर्पण जितना बढ़ता जाता है, उतना ही उसमें सद्गुणों का आधान होता जाता है। संघ-निष्ठा एवं संघ-समर्पण व्यक्ति को भीतर से बदलते हैं। उसमें अहंकार आदि दुर्गुणों का विनाश एवं विनय, सरलता, सहिष्णुता, सहयोग, क्षमा आदि सद्गुणों का सन्निवेश होता रहता है। संघ व्यक्ति को धर्म से जोड़े रखता है। उसकी वृत्तियों को नियन्त्रित करता है। इसलिए संघ भी पूज्य एवं नमस्करणीय है।

आवश्यकता है संघ के शुद्ध स्वरूप को सुरक्षित रखकर निरन्तर आगे बढ़ने की। यदि संघ में धर्मसाधना की अपेक्षा भौतिक सम्पत्तियों को अधिक महत्त्व दिया गया तो धीरे-धीरे वह संघ धर्मसंघ न रहकर पारस्परिक कलह एवं झगड़ों का कारण बन सकता है। धन-सम्पत्ति धर्म-साधना में एवं संघ के उन्नयन में साधन बने यह तो उचित है, किन्तु उसमें व्यक्ति के स्वामित्व का भाव आने पर कलह होने की संभावना का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता।

संघ से प्रत्येक व्यक्ति का जुड़ाव हो, यह आवश्यक है। जुड़ाव के लिए अपने मोह एवं आसक्ति को कम करना होगा। जिस धन के प्रति व्यक्ति का अत्यधिक राग होता है, वह उसे संघ-हित में समर्पित करे तो इसके दो लाभ होंगे- 1.

व्यक्ति के दुःखी रहने के कारण–'मोह' या 'आसक्ति' पर विजय प्राप्त करने की ओर चरण बढ़ेंगे 2. संघ–हित की प्रवृत्तियाँ प्रभावी रीति से चल सकेंगी।

संघ समर्पण के पश्चात् मानापमान में समभाव का अभ्यास करना होता है। कार्यकर्त्ता, विद्वान्, पदाधिकारी, उदारमना श्रीमन्त आदि किसी के लिए सम्मान एवं अपमान के प्रसंग उपस्थित हो सकते हैं। उनकी परवाह न कर जो सतत एक लक्ष्य से संघ हितार्थ कार्य करता है, उसी से संघ आगे बढ़ता है। **(नवम्बर, 2002)**

मृत्यु का सच

संसार में कोई कितना भी बड़ा व्यक्ति क्यों न हो, कितनी भी धन–सम्पत्ति का मालिक क्यों न हो, कितनी भी पूजा–प्रतिष्ठा का रसिक क्यों न हो, कैसी भी प्रभुत्व एवं राज्यशक्ति से सम्पन्न क्यों न हो, एक दिन सबको मृत्यु के सच से गुज़रना होता है। मृत्यु के पश्चात् जीवन नये सिरे से प्रारम्भ होता है। वह कैसा एवं कहाँ प्रारम्भ होगा इसे हम नहीं जानते, किन्तु यह अवश्य जानते हैं कि मरते समय यहाँ की सभी वस्तुएँ यहाँ ही रहती हैं, साथ में कुछ नहीं जाता। यदि कुछ साथ जाता है तो इस जीवन में अर्जित पुण्य–पाप साथ जाते हैं। न कोई पद साथ जाता है, न सम्पत्ति साथ जाती है, न कोई परिजन साथ जाते हैं और न कोई राज्यशक्ति साथ जाती है। इसलिए अध्यात्मवादी शरीर, परिजन एवं पुद्गल से आत्मा की भिन्नता का प्रतिपादन करते हैं। अध्यात्मयोगी आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. के शब्दों में–

- **संसार में कोई कितना भी बड़ा व्यक्ति क्यों न हो, कितनी भी धन–सम्पत्ति का मालिक क्यों न हो, कैसी भी प्रभुत्व एवं राज्य–शक्ति से सम्पन्न क्यों न हो, एक दिन सबको मृत्यु के सच से गुजरना होता है। यदि कुछ साथ जाता है तो इस जीवन में अर्जित पुण्य–पाप साथ जाते हैं।**
- **आश्चर्य तो तब होता है जब इस अनित्य जीवन में व्यक्ति अपने लिए ऐसी योजनाएँ बनाता है, जैसे उसे स्थायी रूप से यह जीवन मिला है।**
- **मृत्यु के समय जिस प्रकार के भाव होते हैं उसी प्रकार के भावों में नया जन्म प्राप्त होता है।**

दृश्य जगत् पुद्गल की माया, मेरा चेतन रूप।
पूरण गलन, स्वभाव धरे तन, मेरा अव्यय रूप।।

चेतन तत्त्व इस दृश्यमान जगत् से भिन्न है, यह बोध उनको होता है जो आत्मगुणों में रमण करते हैं। आश्चर्य तो तब होता है जब इस अनित्य जीवन में

- **कर्म–सिद्धान्त का यह नियम है कि वर्तमान में प्राप्त भव का दो–तिहाई भाग व्यतीत होने पर नये आयुष्य का बंध हो जाता है।**
- **हम जीने की इच्छा अवश्य रखते हैं, किन्तु जीवन अच्छा हो, इसका प्रायः चिन्तन नहीं करते। जीवन तभी अच्छा हो सकता है जब मरण का सच अर्थात् जीवन की अनित्यता का भाव सदैव बना रहे।**
- **हम जीवन में कुछ भी करें, किन्तु मृत्यु का सच हमारी स्मृति में रहे तो हम बहुत से अनावश्यक तनावों एवं इच्छाओं से मुक्त हो सकते है।**
- **व्यक्ति घरवालों के लिए बेईमानी, भ्रष्टाचार आदि करके धन कमाता है, किन्तु अन्त में भोगना स्वयं को पड़ता है।**
- **मृत्यु के सच से परिचित होने का यह अर्थ नहीं कि हम निराशावादी हो जाएँ, अपितु इसका तात्पर्य है कि हम ऐसा करें जो हमारी चेतना को सुप्त न करे, चेतना को शुद्ध एवं सात्त्विक बनाने के लिए हम निरन्तर कोई न कोई अभ्यास अवश्य करें।**

व्यक्ति अपने लिए ऐसी योजनाएँ बनाता है, जैसे उसे स्थायी रूप से यह जीवन मिला है। जीवनावधि कितनी भी क्यों न हो, किन्तु वह समाप्य है। हम जब संसार में जीते हैं तब मृत्यु के सच से प्रायः आँखे मूंदे रहते हैं, किन्तु इससे सच छिपता नहीं है। सच तो सच है– मृत्यु एक सच है, जिससे हर मनुष्य को गुज़रना है।

मृत्यु का पूर्वाभास होना आवश्यक नहीं है। लाखों में किसी एक को ऐसा आभास हो सकता है और वह पूर्ण तैयारी के साथ सहज–मरण का स्वागत कर सकता है। शेष तो उस सत्य से विमुख होकर जीते हैं और सोचते हैं– मृत्यु आएगी तब देखा जायेगा। अभी तो हम हैं, मृत्यु की बात सोचना बेवकूफी है। जीवन में कभी कैंसर आदि असाध्य रोग से ग्रस्त होने पर निकट मरण का संकेत प्राप्त हो जाता है। फिर भी व्यक्ति मरण से बचने का पूरा प्रयास करता हुआ देखा जाता है। परिजन भी अन्तिम श्वास तक अस्पताल, डॉक्टर और औषधि का आश्रय नहीं छोड़ना चाहते। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को अवशिष्ट जीवन का सदुपयोग करने का भी अवसर प्राप्त नहीं होता। जब यह सुनिश्चित हो जाय कि कोई भी औषधि उस रोग का निवारण नहीं कर सकती तब अस्पताल के वातावरण को त्यागकर अपने घर में आ जाना और भावशुद्धि के लिए आध्यात्मिक और वैराग्यपरक भजनों का श्रवण करना ही अधिक उचित प्रतीत होता

है। पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का आधान कर संलेखना-संथारा स्वीकार करना उस स्थिति में आत्मिक उत्थान की दृष्टि से निश्चित ही उपयोगी है।

विचार का विषय तो तब होता है जब मृत्यु अचानक आक्रमण कर देती है। ऐसी अचानक मृत्यु कभी प्राकृतिक आपदाओं के कारण, कभी वाहनादि के दुर्घटनाग्रस्त होने पर तो कभी आयुष्य के क्षीण होने पर सहज ही आ जाती है। इस प्रकार की मृत्यु में संभलने का अवसर नहीं मिलता। भावों की शुद्धि के पुरुषार्थ हेतु उपक्रम नहीं होता। कहते हैं मृत्यु के समय जिस प्रकार के भाव होते हैं उसी प्रकार के भावों में नया जन्म प्राप्त होता है। वैसे नया भव आयुष्य कर्म के बंध के अनुसार प्राप्त होता है। मृत्यु के समय व्यक्ति में उस प्रकार के भाव स्वाभाविक रूप से आ जाते हैं, जिस प्रकार के भव में उसे गमन करना होता है। कर्म-सिद्धान्त का यह नियम है कि वर्तमान में प्राप्त भव का दो-तिहाई भाग व्यतीत होने पर नये आयुष्य का बंध हो जाता है। इसका तात्पर्य है कि वर्तमान भव में गतिशील शुभाशुभ भावों के अनुसार ही नया भव प्राप्त होता है। इसलिए नये भव को सुधारने हेतु वर्तमान भव में भावों की शुद्धि अनिवार्य है। यहीं इस भव को सुधारने हेतु भी भावों की शुद्धि अपेक्षित है। जीवन की सुखकरता भावों की शुद्धि से जुड़ी हुई है।

हम जीने की इच्छा अवश्य रखते हैं, किन्तु जीवन अच्छा हो, इसका प्रायः चिन्तन नहीं करते। जीवन तभी अच्छा हो सकता है जब मरण का सच अर्थात् जीवन की अनित्यता का भाव सदैव बना रहे। फिर व्यक्ति मोह, आसक्ति, परिग्रह, अनैतिकता, लोलुपता आदि दोषों में फंस नहीं सकता। क्योंकि ये दोष वर्तमान जीवन को भी दूषित करते हैं तथा भावी जीवन को भी गहरे गर्त में डुबो देते हैं। इसलिए मृत्यु अवश्यम्भावी है, इस सच को स्वीकार करते हुए जीने की आवश्यकता है। यद्यपि सांसारिक प्रलोभनों में अटके मनुष्य के लिए इस सत्य को स्वीकार करके जीना कठिन है। किन्तु इसको स्वीकार किए बिना जीवन सुन्दर नहीं बनता।

मनुष्य मोह के वशीभूत होकर

- **जीवन की सार्थकता इसी में है कि हमारे विचारों, वचनों एवं कार्यों में उत्तरोत्तर शुद्धता, उत्कृष्टता और उदारता की अभिव्यक्ति हो।**
- **जैन धर्म में मृत्यु को महोत्सव बनाने के लिए त्याग-प्रत्याख्यान के साथ संथारापूर्वक समाधि-भाव में मरण की प्रेरणा की गई है।**

अपने लिए ही नहीं, अपनी अनेक पीढ़ियों के लिए भी इन्तजाम करने की सोचता है, किन्तु यह भी सच है कि असीम सम्पत्ति का संचय करके भी मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति उसे संभालने नहीं आता है, न यह जान पाता है कि उसके वंशजों ने उसे सुरक्षित रखा है, नष्ट कर दिया है या बढ़ाया है। व्यक्ति जब प्रयाण करता है तो कारोबार जहाँ का तहाँ छोड़कर चल देता है। पुनः हिसाब देखने आने का अवसर नहीं होता। व्यक्ति घरवालों के लिए बेईमानी, भ्रष्टाचार आदि करके धन कमाता है, किन्तु अन्त में भोगना स्वयं को पड़ता है। इस जीवन में भी वह अशान्ति एवं तनाव में जीता है तथा आगे भी अभुक्त पापकर्मों का फल प्राप्त होता रहता है।

मृत्यु के सच से परिचित होने का यह अर्थ नहीं कि हम निराशावादी हो जाएँ, अपितु इसका तात्पर्य है कि हम ऐसा करें जो हमारी चेतना को सुप्त न करे, चेतना को शुद्ध एवं सात्त्विक बनाने के लिए हम निरन्तर कोई न कोई अभ्यास अवश्य करें। स्वाध्याय, सामायिक, ध्यान, व्रत-नियम, उपवास-पौषध, सत्संग आदि इसमें सहायक हो सकते हैं। अतः इन्हें अपनी दिनचर्या में अवश्य स्थान दें, ये हमें भटकने से बचा सकते हैं तथा जीवन को सम्यक् दिशा प्रदान कर सकते हैं।

जैन धर्म में मृत्यु को महोत्सव बनाने के लिए त्याग-प्रत्याख्यान के साथ संथारापूर्वक समाधिभाव में मरण की प्रेरणा की गई है। प्रभु से भी यही प्रार्थना की गई- ''प्रभुवर! अन्तिम श्वास में समाधि जीवन होवे।'' अध्यात्मवादी कवि तो शरीर को मिट्‌टी से भी कच्चा बतलाते हैं- ''काया गार सूँ काची।''

हम जीवन में कुछ भी करें, किन्तु मृत्यु का सच हमारी स्मृति में रहे तो हम बहुत से अनावश्यक तनावों एवं इच्छाओं से मुक्त हो सकते हैं। आसक्ति की गहरी निद्रा टूट सकती है। प्राप्त जीवन का अधिकाधिक सदुपयोग करने की भावना जाग सकती है। जीवन सीमित है, उसका हम कैसा उपयोग करते हैं, यह हमारे पर निर्भर है। धन-सम्पत्ति आदि को तो व्यापार के माध्यम से बढ़ाया जा सकता है, किन्तु जीवन की अवधि को बढ़ाना शक्य नहीं। हाँ, संयम से जीने वाले अपेक्षाकृत पूर्ण आयु भोगते हैं और असंयम से जीने वाले अकालमृत्यु को भी प्राप्त हो सकते हैं। हम संयम से जीते हुए जीवन के स्वरूप एवं लक्ष्यों का यथोचित निर्धारण करें।

जीवन की सार्थकता इसी में है कि हमारे विचारों, वचनों एवं कार्यों में उत्तरोत्तर शुद्धता, उत्कृष्टता और उदारता की अभिव्यक्ति हो। यह अभिव्यक्ति दूसरों को दिखाने के लिए नहीं, अपितु आत्मशुद्धि एवं आन्तरिक सुखानुभूति के लिए हो। चेतना के स्तर पर हमें ऐसी अनुभूति हो कि ''अब हम अमर भये न मरेंगे।''**(मई, 2006)**

भ्रष्टाचार की समस्या

आचरण के जो साधारण नैतिक मानदण्ड हैं, उनका उल्लंघन कर जब अभीप्साओं की पूर्ति की जाती है, तो वह व्यवहार भ्रष्टाचार के दायरे में आ जाता है। भ्रष्ट आचरण ही भ्रष्टाचार है। भ्रष्टाचार के सम्प्रति विविध रूप हैं, यथा– रिश्वत, मिलावट, तस्करी, बैंकों में छद्म आदान–प्रदान, करचोरी, कार्य किए बिना ही फाइलों में कार्य का दिखाना, दूसरों का शोषण, स्त्री–पुरुषों के अनैतिक संबंध, देशद्रोह, राष्ट्र के सामान्य नियमों का उल्लंघन आदि। इस प्रकार कभी आर्थिक भ्रष्टाचार होता है, कभी राजनैतिक, कभी सामाजिक तो कभी चारित्रिक भ्रष्टाचार भी दृग्गोचर होता है। अब तो कम्प्यूटर के माध्यम से भी भ्रष्टाचार का प्रवेश हो गया है।

भ्रष्टाचार के प्रमुख कारण हैं– श्रम के बिना फल प्राप्ति में रुचि, लोभग्रस्त चित्तवृत्ति, महत्त्वाकांक्षा की तीव्रता, अभावग्रस्तता, राजकीय नियमों की अव्यावहारिकता, समाज में मूल्यों की अपेक्षा धन की अधिक महत्ता, आत्महित की झूठी अवधारणा, देखादेखी अनुकरण, ईमानदारी के पालन में कठिनाई आदि।

भ्रष्टाचार के उद्भव की भूमि मानव का मन है। जब मनुष्य को भ्रष्टाचरण का मार्ग अपनी इच्छाओं या वासनाओं की

- **नैतिक मानदण्ड का उल्लंघन कर जब अभीप्साओं की पूर्ति की जाती है, तो वह व्यवहार भ्रष्टाचार के दायरे में आ जाता है।**
- **भ्रष्टाचार के सम्प्रति विविध रूप हैं, यथा– रिश्वत, मिलावट, तस्करी, बैंकों में छद्म आदान–प्रदान, करचोरी, कार्य किए बिना ही फाइलों में कार्य का दिखाना, दूसरों का शोषण, स्त्री–पुरुषों के अनैतिक संबंध, देशद्रोह, राष्ट्र के सामान्य नियमों का उल्लंघन आदि।**
- **भ्रष्टाचार के उद्भव की भूमि मानव का मन है।**
- **यह छुआछूत का रोग है जो नैतिक बल से कमजोर मन वालों में अपना आक्रमण कर ही देता है।**

पूर्ति के लिए सुगम एवं प्रभावी प्रतीत होता है तो वह इस दोष को अपनाने के लिए उसी प्रकार तत्पर हो जाता है, जिस प्रकार अपने को भुलावे में डालने के लिए कोई अफीम का सेवन करता है। यह छुआछूत का रोग है जो नैतिक बल से कमजोर मन वालों में अपना आक्रमण कर ही देता है। एक बार इस रोग की गिरफ्त में आने के पश्चात् मन में यह भाव ही उत्पन्न नहीं होता कि इस दोष से निकला भी जा सकता है। शराबी जिस प्रकार शराब को बुरा समझकर भी उसे छोड़ नहीं पाता, उसी प्रकार भ्रष्टाचार की समस्या भी मानव के मन पर कब्जा जमाए रखती है। इस दोष से बाहर आने के लिए अपना उत्कट नैतिक एवं चारित्रिक मनोबल आवश्यक होता है तथा इच्छाओं एवं वासनाओं के उद्रेक पर ज्ञानपूर्वक नियन्त्रण करना होता है, जो प्रायः व्यक्ति नहीं जुटा पाता। अधिकतर तो ऐसे लोग हैं जिनको यह ही ज्ञात नहीं होता कि उनका आचरण किस प्रकार भ्रष्ट है।

- **शराबी जिस प्रकार शराब को बुरा समझकर भी उसे छोड़ नहीं पाता, उसी प्रकार भ्रष्टाचार की समस्या भी मानव के मन पर कब्जा जमाए रखती है।**
- **भ्रष्टाचार को अच्छा समझना एवं विकास का साधन समझना कथमपि उचित नहीं।**
- **समाज में ऐसा वातावरण बने कि भ्रष्टाचार व्यक्ति की विवशता न हो, अपितु नैतिक आचरण उसके लिए अपरिहार्य हो जाए।**
- **एक श्रावक यदि 12 व्रतों का आचरण करता है तो भ्रष्टाचार के दायरें से दूर रहता है। उसका नैतिक एवं चारित्रिक मनोबल उच्च होता है।**

भ्रष्टाचार व्यक्ति में उत्पन्न होकर सामाजिक रूप ग्रहण कर लेता है, क्योंकि उसका संबंध किसी अन्य व्यक्ति से भी किसी न किसी रूप में रहता ही है। यह सामाजिक बुराई होने से ही सबके लिए चिन्ता का विषय बनती है।

भ्रष्टाचार यद्यपि सम्पूर्ण देश एवं विश्व की समस्या है, संसद में बैठे हमारे प्रतिनिधि भी इससे अछूते नहीं है, ग्यारह सांसदों को अभी एक-डेढ़ माह पूर्व ही बर्खास्त किया गया है। अधिकारी, कर्मचारी, व्यापारी भी जहाँ अवसर मिलता है, नैतिकता के मानदण्डों को ताक पर रखकर भ्रष्टाचार को अपना हितकारी मान बैठते हैं। किन्तु यह लालच की अधिकता एवं नैतिक मनोबल की न्यूनता का परिणाम है।

जिनका लक्ष्य ज्यों-त्यों करके धन कमाना है अथवा अपनी इच्छाओं को पूरा करना है वे भ्रष्टाचार को ही अपने विकास का मार्ग समझते हैं, किन्तु इसे

बृहत्स्तर पर अच्छा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह समाज के लिए तो कलंक है ही, व्यक्ति भी भ्रम में ही जीता है। अतः भ्रष्टाचार को अच्छा समझना एवं विकास का साधन समझना कथमपि उचित नहीं।

हाँ, कभी न चाहते हुए भी व्यक्ति भ्रष्टाचार का साथ देता है। रिश्वत के बिना काम ही नहीं चलता, रिश्वत न दो तो समय और शक्ति का व्यय अधिक करना पड़ता है तो व्यक्ति रिश्वत देकर पिण्ड छुड़ा लेता है। इसे वह सरल मार्ग समझता है, किन्तु इस तरह का आचरण समाज में नैतिक बल का संचार नहीं करता। समाज में ऐसा वातावरण बने कि भ्रष्टाचार व्यक्ति की विवशता न हो, अपितु नैतिक आचरण उसके लिए अपरिहार्य हो जाए। कभी-कभी रिश्वत लेने वालों को योजनाबद्ध रीति से रंगे हाथों पकड़ा जाता है। उससे रिश्वत लेने वालों का मनोबल तो गिरता ही है एवं रिश्वत न लेने का संदेश भी समाज में जाता है, किन्तु अभी भी देश में भ्रष्टाचार की जड़ें गहरी हैं, जिनके समापन में कई गुणी शक्ति एवं नैतिक वातावरण की आवश्यकता है।

> - **नैतिकता जीवन का एक मूल्य है, जो व्यक्ति को समाज में विश्वसनीय बनाता है।**
> - **भ्रष्टाचार को वहाँ पनपने का अधिक अवसर है जहाँ दोनों पक्षों को लाभ हो। यही कारण है कि भ्रष्टाचार सामाजिक रूप में मान्य स्वरूप ग्रहण कर लेता है।**
> - **भ्रष्टाचार की समस्या का निराकरण तभी हो सकता है जब भौतिक पदार्थों की अपेक्षा जीवन-मूल्यों का महत्त्व अधिक स्थापित हो।**

एक श्रावक यदि 12 व्रतों का आचरण करता है तो वह भ्रष्टाचार के दायरें से दूर रहता है। इनमें से पाँच अणुव्रतों का पालन करने वाला भी भ्रष्टाचार अपने पास फटकने नहीं देता। उसका नैतिक एवं चारित्रिक मनोबल उच्च होता है। श्रावकाचार को जीवन में स्थान देने वाला व्यक्ति किसी भी प्रकार के भ्रष्ट आचरण में संलग्न नहीं हो सकता।

भ्रष्टाचार राजनैतिक हो या आर्थिक, चारित्रिक हो या सामाजिक- एक श्रावक इन सबसे स्वतः दूर रहता है। वह भ्रष्टाचार के प्रवाह में न बहकर किनारे पर खड़ा होने में अपना हित समझता है। भ्रष्टाचार को किसी भी मंच से उपादेय एवं अच्छा नहीं बताया जाता, तथापि व्यक्ति के मन में उसकी उपादेयता का भाव समाया रहता है, इसलिए वह इसमें प्रवृत्त हो ही जाता है।

सत्ता, सम्पत्ति एवं शक्ति मनुष्य को भ्रष्ट बनाती है, किन्तु यह तभी होता है

जब व्यक्ति में विवेक न हो तथा उसका नैतिक बल उच्च न हो। यदि उसके मन में सत्ता आदि की अपेक्षा जीवन मूल्यों का महत्त्व अधिक है तो वह भ्रष्टाचार के प्रवाह में नहीं बह सकता।

जैन समाज के सदस्य जब भ्रष्टाचार में लिप्त होते हैं तो विचारणीय लगता है। नियमित रूप से मन्दिर या धर्मस्थान में जाने वाले तथा सामायिक-स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति यदि भ्रष्टाचार में संलग्न हों तो इसका तात्पर्य है कि उन पर सामायिक-स्वाध्याय का प्रभाव नहीं है। व्रतों का पालन अभी प्रारम्भ नहीं किया है।

नैतिकता जीवन का एक मूल्य है, जो व्यक्ति को समाज में विश्वसनीय बनाता है। अनैतिक आचरण भ्रष्टाचार की कोटि में आता है जो व्यक्ति की इच्छाओं एवं वासनाओं की पूर्ति में तो सहायक होता है, किन्तु समाज में उसकी विश्वसनीयता संदिग्ध हो जाती है। आदमी अपना स्वार्थ पूरा करने के लिए दूसरे व्यक्ति के साथ किस प्रकार के अनैतिक एवं भ्रष्ट आचरण पर उतर आता है, इसकी कोई सीमा नहीं।

राजकीय स्तर पर भ्रष्टाचार निरोधक कानून बना हुआ है, अपराध रोकने वाले अन्य अनेक कानून भी हैं, किन्तु उनके माध्यम से सैकड़ों में एक-दो अपराधी ही गिरफ्त में आते हैं, अन्य बचकर निकल जाते हैं। एक अपराध की सफलता अन्य अपराधों को प्रोत्साहित करती है। कतिपय समाजों, कार्यालयों अथवा क्षेत्रों में तो अनैतिक आय का हिस्सा बंधा रहता है, जिससे सरकारी आय में कमी होती है तथा व्यापारी, कर्मचारी आदि लाभ में रहते हैं। ऐसी स्थिति में अपराध/भ्रष्टाचार पनपता एवं फलता-फूलता रहता है।

भ्रष्टाचार को वहाँ पनपने का अधिक अवसर है जहाँ दोनों पक्षों को लाभ हो। यही कारण है कि भ्रष्टाचार सामाजिक रूप में मान्य स्वरूप ग्रहण कर लेता है। जिसको हानि होती है, वही भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज उठाता है। किन्तु इस दोष को प्रश्रय न मिले, इसका उपाय प्रायः नहीं सोचा जाता।

भ्रष्टाचार की समस्या का निराकरण तभी हो सकता है जब भौतिक पदार्थों की अपेक्षा जीवन-मूल्यों का महत्त्व अधिक स्थापित हो। इस संबंध में जैनधर्म में प्रतिपादित श्रावकाचार की पालना भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है। पाँच अणुव्रतों का अधिकाधिक पालन पूरे देश में सामान्य आचरण के रूप में किया जाए तो भ्रष्टाचार तिरोहित हो सकता है। इस समस्या का निराकरण करने के लिए समाज में स्वच्छ वातावरण एवं पारस्परिक विश्वसनीयता हेतु नैतिक मूल्यों के स्थापन की आवश्यकता है। **(फरवरी, 2006)**

आर्त्तध्यान

चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है। ध्यान शुभ भी होता है और अशुभ भी। जैन धर्म में ध्यान के चार भेद हैं– 1. आर्त्तध्यान 2. रौद्रध्यान 3. धर्मध्यान और 4. शुक्ल ध्यान। इनमें प्रथम दो संसार के हेतु होने से अशुभ या अप्रशस्त हैं तथा अन्तिम दो मोक्ष के हेतु होने से प्रशस्त या शुभ हैं।

जो ध्यान चित्त को मलिन बनाता है, रागादि कषायों में वृद्धि करता है, कर्म बन्धन में सहायक बनता है वह अप्रशस्त या अशुभ ध्यान है तथा जो ध्यान चित्त को निर्मल बनाता है, रागादि पर विजय प्राप्त करने एवं कर्मों की निर्जरा में सहायक बनता है, वह प्रशस्त या शुभ ध्यान है। टी.वी. पर चित्रहार देखते समय जो ध्यान लगता है, चित्त एकाग्र रहता है वह रागादि कषायों को अभिवृद्ध करने के कारण अशुभ ध्यान है, क्योंकि उससे रागादि कषायों में कमी आती है एवं चित्त व आत्मा की निर्मलता बढ़ती है।

■ दुःखी व्यक्ति का ध्यान आर्त्त ध्यान है। आर्त्तध्यान के चार प्रकार हैं– 1. अप्रिय के वियोग के लिए सतत चिन्ता करना। 2. प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिए सतत चिन्तन करना। 3. रोग होने पर उसके निवारण हेतु चिन्ता करना। 4. अप्राप्त वस्तु आदि की प्राप्ति के लिए संकल्प करना।

■ अनादिकाल के अप्रशस्त संस्कारों से बिना प्रयत्न के भी यह आर्त्तध्यान उत्पन्न होता रहता है।

■ आर्त्तध्यान मानव के सम्यक् सोच को कुण्ठित बनाये रखता है।

'ध्यान' को आभ्यन्तर तप में भी स्थान दिया गया है। वह ध्यान शुभ ही होता है, अशुभ नहीं। साधना के क्षेत्र में ध्यान का जो महत्त्व है वह शुभ या प्रशस्त ध्यान का ही है, अशुभ या अप्रशस्त ध्यान का नहीं। किन्तु व्यवहार में 'ध्यान रखना', 'ध्यान कहाँ है' आदि शब्द प्रयोग हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ जुड़े हैं। ध्यान के बिना कोई भी कार्य सम्यक् रूपेण नहीं होता। प्रत्येक कार्य में ध्यान की अपेक्षा है।

मनुष्य चार ध्यानों में से अधिकतर आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान में ही जीता है। यही उसके दुःख का कारण है। दुःखमुक्ति के लिए धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान उपयोगी हैं। धर्मध्यान में वीतराग-वचन, दोष-निवारण, कर्म-फल, लोकस्वरूप आदि का विचार कर सत्यान्वेषण किया जाता है। शुक्ल ध्यान तो पूर्वधरों एवं केवलियों को होता है। यह सर्वोत्कृष्ट ध्यान है। इस ध्यान का चौथा भेद अयोगी को होता है।

आर्त्त का अर्थ होता है दुःखी। दुःखी व्यक्ति का ध्यान आर्त्तध्यान है। आर्त्तध्यान की अवस्था व्यक्ति को दुःखी कर देती है। आर्त्तध्यान के चार प्रकार हैं-

1. अप्रिय या अनिष्ट वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि के प्राप्त होने पर उनके वियोग के लिए सतत चिन्ता करना।
2. प्रिय वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि का वियोग होने पर उनकी पुनः प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता/चिन्तन करना।
3. रोग आदि की प्रतिकूल वेदना होने पर उनके निवारण हेतु चिन्ता करना।
4. अप्राप्त वस्तु आदि की प्राप्ति के लिए संकल्प करना, भोग की लालसा रखना या भोग-प्राप्ति का चिन्तन करना।

आर्त्तध्यान के ये चार प्रकार हमारे दैनिक जीवन में घटित होते हुए अनुभव में आते हैं। अनादिकाल के अप्रशस्त संस्कारों से बिना प्रयत्न के भी यह आर्त्तध्यान उत्पन्न होता रहता है। (ज्ञानार्णव, 25.41) आर्त्तध्यान के कारण जीव सदा शंका, शोक, भय, प्रमाद, कलह, चित्तभ्रम, उन्माद, विषयोत्सुकता, मूर्च्छा आदि से ग्रस्त रहता है। यह आर्त्तध्यान मिथ्यात्वी जीवों को तो होता ही है, किन्तु सम्यक्त्वियों में छठे प्रमत्तसंयतगुणस्थान तक भी सम्भव है। छठे गुणस्थान में आर्त्तध्यान का चौथा भेद नहीं पाया जाता है।

जिस व्यक्ति का जीवन बाह्य वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थितियों में अटका हुआ है तथा जो उनकी मनोज्ञता में लालायित एवं अमनोज्ञता में आर्त्त होता है वह आर्त्तध्यान से ग्रस्त बना रहता है। आर्त्तध्यान मानव के सम्यक् सोच को कुण्ठित बनाये रखता है। आर्त्तध्यान सर्वथा अनावश्यक एवं अनपेक्षित है, फिर भी मनुष्य के अपने वासनाजनित संस्कार के कारण वह आर्त्तध्यान की चपेट में आता रहता है।

भोगवादी विचारधारा से ग्रस्त व्यक्ति भोग सामग्री की प्राति के लिए लालायित रहता है। उपभोक्ता संस्कृति उसकी इस वासना को अधिक उद्दीप्त बनाती रहती है। भोगेच्छु व्यक्ति इष्ट वस्तु, व्यक्ति आदि के संयोग में अपने को सुखी एवं वियोग में दुःखी अनुभव करता है। भोगपूर्ति में बाधक तत्त्वों का वह निराकरण चाहता

है, उसके लिए सतत चिन्ताकुल रहता है। अनिच्छित वेदना आदि के उपस्थित होने पर अपनी सहनशक्ति को न्यून समझकर शोकाकुल हो उठता है। इस प्रकार अनुकूल को बनाये रखने एवं प्रतिकूल के वियोग की अभिलाषा ही आर्त्तध्यान का मूल है। ध्यानशतक में कहा है-

तस्सऽक्कंदणसोयणपरिदेवणताडणाइं लिंगाइं।
इट्ठाणिट्ठवियोगयवियणा - निमित्ताइं ।।

इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग एवं वेदना के निमित्त से होने वाले आर्त्तध्यान के चार लक्षण बताए हैं- 1. आक्रन्दन 2. शोचन 3. परिदेवन और 4. ताड़न। ये चारों स्थूल लक्षण हैं। आर्त्तध्यानी इष्ट का वियोग होने पर चिल्लाता है, आक्रन्दन करता है, शोकमग्न हो जाता है(शोचन),विलाप (परिदेवन) करता है अथवा अपने ही छाती आदि अंगों को पीटने लगता है(ताड़न)। अपने प्रियजनों की मृत्यु पर ये सभी लक्षण देखे जा सकते हैं। किन्तु सांसारिक घटनाओं में सूक्ष्म स्तर पर आर्त्तध्यान चलता रहता है।

घर से बालक बाहर जाता है, माता-पिता का चिन्तन चलता है-कहीं कोई दुर्घटना न हो जाय, कोई अनिष्ट न हो जाय- ऐसी शंका भी आर्त्तध्यान ही है। इसी प्रकार व्यापारी के घाटा लग जाने पर उसे शोक होता है, भीतर से हृदय कचोटता है एवं हानि विषयक-चिन्तन चलता रहता है वह भी आर्त्तध्यान ही है। इस प्रकार जीवन में जो व्यर्थ की चिन्ता होती है, वह हमारी शक्ति का ह्रास ही करती है, उसका कोई लाभ नहीं है।

आर्त्तध्यान की अवस्था में समस्या का समाधान नहीं खोजा जा सकता, मात्र दुःख से संतप्त हुआ जाता है। इसलिए

- **भोगेच्छु व्यक्ति इष्ट वस्तु, व्यक्ति आदि के संयोग में अपने को सुखी एवं वियोग में दुःखी अनुभव करता है।**
- **अनुकूल को बनाये रखने एवं प्रतिकूल के वियोग की अभिलाषा ही आर्त्तध्यान का मूल है।**
- **इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग एवं वेदना के निमित्त से होने वाले आर्त्तध्यान के चार लक्षण बताए हैं- 1. आक्रन्दन, 2. शोचन, 3. परिदेवन और 4. ताड़न।**
- **आर्त्तध्यान की अवस्था में समस्या का समाधान नहीं खोजा जा सकता, इसलिए आर्त्तध्यान त्याज्य है।**
- **विवेकी व्यक्ति अपने को वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थितियों से ऊपर समझता है। वह दुःख की परिस्थितियों में भी शान्त, धीर एवं सुखी नज़र आता है।**

आर्त्तध्यान त्याज्य है। आर्त्तध्यान ही कभी रौद्रध्यान में परिणत हो जाता है। रौद्रध्यान क्रूरता का परिचायक है। जिसका चित्त क्रूर एवं कठोर होता है वह रुद्र कहलाता है। रुद्र व्यक्ति की एकाग्र चित्तावस्था ही रौद्रध्यान है। यह रौद्रध्यान हिंसा, झूठ, चोरी एवं विषयरक्षण के भेद से चार प्रकार का है। रौद्रध्यानी हिंसा, झूठ, चोरी एवं विषयरक्षण के संबंध में ही सतत चिन्तन करता है तथा उसी के अनुरूप आचरण में प्रवृत्त होता है।

आर्त्तध्यान की भांति रौद्रध्यान भी व्यक्ति को पतन के मार्ग पर ले जाता है। विवेकशील इन दोनों प्रकार के ध्यानों से बचकर धर्मध्यान को अपनाता है। धर्मध्यान ही मनुष्य के लिए कल्याणकारी है, जो आगे चलकर व्यक्ति को शुक्लध्यान में ले जाता है। धर्मध्यान सम्यग्दृष्टियों को ही हो सकता है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार धर्मध्यान सातवें से बारहवें गुणस्थान तक माना गया है, जबकि दिगम्बर परम्परा में चौथे से सातवें गुणस्थान तक मान्य है। हम इस मान्यता भेद में नहीं जाते, किन्तु धर्मध्यान की ओर जाने के लिए सम्यग्दर्शन एक आवश्यक तत्त्व है, इसे स्वीकार करना आवश्यक है।

स्वाध्याय, सत्संग या स्वतः स्फूर्त प्रेरणा से यदि दृष्टि सम्यक् बनती है, तो आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान में स्वतः कमी आती जाएगी और एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब आर्त्त एवं रौद्रध्यान से पूर्ण मुक्त होकर व्यक्ति धर्मध्यान से होकर शुक्लध्यान तक पहुँच सकता है।

इस प्रक्रिया के लिए सर्वप्रथम हमें आर्त्तध्यान में हमारी चेतना एवं हमारे मन की क्या अवस्था बनती है, उसका अवलोकन करना प्रारम्भ करना चाहिए। जिस दिन या जिस क्षण हम दुःख की अवस्था में हों, निराशा, चिन्ता, भय, आशंका की अवस्था में हों, तब सोचना चाहिए कि मेरी ये अवस्थाएँ आर्त्तध्यान की तो सूचक नहीं? क्या निराशा, चिन्ता आदि से समस्या का समाधान संभव है? क्या इनसे मेरे सामर्थ्य एवं मनोबल का ह्रास नहीं हो रहा है? यदि इस प्रकार चिन्तन को मोड़ दिया जाए एवं यह सोचा जाय कि जो घटनाएँ मेरे हाथ में नहीं, उनके कारण मेरा दुःखी होना, आर्त्त होना क्या उचित है? अविवेकी व्यक्ति ही इस प्रकार दुःख को आमन्त्रण देता है। विवेकी व्यक्ति अपने को वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थितियों से ऊपर समझता है। इनके बदलने के स्वभाव से वह परिचित रहता है तथा क्षण-क्षण में क्रोध, असंतोष, तनाव, निराशा आदि की स्थितियों में नही जाता। वह दुःख की परिस्थितियों में भी शान्त, धीर एवं सुखी ही नज़र आता है। **(जून, 2002)**

स्वागत है 'अहिंसा वर्ष' का

भारत सरकार ने भगवान महावीर के 2600 वें जन्म कल्याणक-महोत्सव वर्ष को अहिंसा वर्ष के रूप में मनाने की घोषणा की है। अहिंसा न केवल श्रमण संस्कृति की, अपितु भारतीय संस्कृति की मुख्य पहचान है। विश्व में जब आतंक, शोषण एवं हिंसा का बोलबाला हो तो 'अहिंसा वर्ष' की घोषणा निश्चित ही एक सुखद घटना है।

वैचारिक दृष्टि से आज विश्व में भी हिंसा की अपेक्षा अहिंसा को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। युद्ध के प्रसंगों को टालने में आज सम्पूर्ण विश्व का विश्वास है। अहिंसा एवं शान्ति के लिए विश्वस्तर पर नोबल पुरस्कार जैसे सम्मान दिए जा रहे हैं। यहीं नहीं, समस्त विश्व में आज मानवाधिकारों की चर्चा है। 'मानव मानव एक समान' का नारा सब ओर गूँज रहा है। शोषण, आतंकवाद, भ्रष्टाचार आदि को आज बुरा माना जाता है। काले-गोरे एवं शूद्र-ब्राह्मण के भेद भाव पर अंकुश लगा है। यदि कोई देश, आतंक, हिंसा, शोषण आदि को बढ़ावा देता है तो उसकी निन्दा की जाती है। इस प्रकार भारत में ही नहीं विश्व भर में सैद्धान्तिक दृष्टि से हिंसा की अपेक्षा अहिंसा

- **अहिंसा भारतीय संस्कृति की मुख्य पहचान है।**
- **युद्ध के प्रसंगों को टालने में आज सम्पूर्ण विश्व का विश्वास है।**
- **यदि कोई देश आतंक, हिंसा, शोषण आदि को बढ़ावा देता है तो उसकी निन्दा की जाती है। इस प्रकार भारत में ही नहीं विश्व भर में सैद्धान्तिक दृष्टि से हिंसा की अपेक्षा अहिंसा का मूल्य प्रतिष्ठित हो रहा है।**
- **भगवान महावीर की अहिंसा मात्र मनुष्य तक सीमित नहीं, वह प्राणिमात्र के प्रति मैत्री एवं सद्भाव का संदेश देती है। भगवान महावीर प्राणिमात्र के जीने के अधिकार की पहचान कराते हैं।**
- **हिंसा नकारात्मक एवं हानि-कारक भाव है, जबकि अहिंसा सकारात्मक एवं सबके लिए हितकारी भाव है।**

का मूल्य प्रतिष्ठित हो रहा है।

- **अहिंसा सभी जीवों के लिए कल्याणकारिणी है।**
- **हिंसा से जहाँ वैर भाव बढ़ता है वहाँ अहिंसा मैत्री भाव का साधन है।**
- **विश्व में हिंसा करके यदि कोई मित्रता स्थापित करना चाहता है तो यह सम्भव नहीं है।**
- **अहिंसा अभयदायिनी है। हिंसा से आतंक एवं भय उत्पन्न होता है।**
- **अहिंसा के अभाव में शान्ति एवं स्वतन्त्रता की परिकल्पना नहीं की जा सकती।**
- **हिंसा से हिंसा को रोका नहीं जा सकता।**
- **विश्व में सम्प्रति मानवाधिकार की अवधारणा का तो विकास हुआ है, किन्तु भगवान महावीर प्राणिमात्र के अधिकार की बात करते हैं।**
- **विश्व में आज शान्ति, समता एवं स्वतन्त्रता की आवश्यकता का अनुभव किया जाता है, जिसकी प्राप्ति एवं रक्षा अहिंसा से ही संभव है।**
- **अहिंसा सकारात्मक एवं सबके लिए हितकारी भाव है।**

विश्व में जब अहिंसा की बात की जाती है, तो प्रायः उसका तात्पर्य मानवीय-अहिंसा तक ही सीमित रहता है, क्योंकि ईसाई एवं इस्लाम धर्मों में अन्य प्राणियों को या तो चेतनाशीलता का ही दर्जा नहीं दिया गया है, या फिर उन्हें मानव के लिए सृष्ट बताया गया है। विश्व में ईसाई एवं इस्लाम धर्मों का ही अधिक प्रचार है। भगवान महावीर एवं जैन धर्म की अहिंसा से जन-साधारण तो अपरिचित सा है। यह अहिंसावर्ष भगवान महावीर की अहिंसा से जन-साधारण को परिचित कराने एवं अहिंसा की व्यापकता को प्रतिष्ठित करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। यद्यपि इस सीमित अवधि में विश्वभर में बदलाव नहीं लाया जा सकता है।

केन्द्र सरकार ने 'अहिंसा वर्ष' की घोषणा करके विश्व को भारतीय चित्तवृत्ति एवं जैन संस्कृति का तो संदेश दिया ही है, किन्तु इसके साथ ही अहिंसा में अपनी आस्था प्रकट करते हुए भगवान महावीर के सिद्धान्तों को समझने हेतु भारत एवं विश्व को प्रेरित किया है।

भगवान महावीर की अहिंसा मात्र मनुष्य तक सीमित नहीं, वह प्राणिमात्र के प्रति मैत्री एवं सद्भाव का संदेश देती है। उसमें पशु-पक्षी, कीट-पतंग एवं पेड़ पौधे सहित वायु, जल एवं पृथ्वी के जीवों की हिंसा का भी निषेध किया गया है। विश्व ने

जिस प्रकार वर्ग–भेद के आधार पर होने वाले भेदभाव को श्रद्धांजलि देना उपयुक्त समझा है उसी प्रकार महावीर की अहिंसा में प्राणिमात्र की भावना का आदर किया गया है। भगवान महावीर प्राणिमात्र के जीने के अधिकार की पहचान कराते हैं। उन्होंने आचारांग सूत्र में फरमाया है– **''सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो, जीविउकामा सव्वेसिं जीवितं पियं।''**

सभी प्राणियों को आयुष्य प्रिय है, सबको सुख अनुकूल है एवं दुःख प्रतिकूल है। वध सबको अप्रिय लगता है और जीना प्रिय लगता है। सभी प्राणी जीवित रहने की इच्छा रखते हैं, सबको जीवन प्रिय है। प्राणिमात्र की यह पहचान जो भगवान महावीर ने की, इसे आज विश्व में कितने लोग समझ रहे हैं? मनुष्य अपने लिए अन्य प्राणियों का बिना किसी हिचकिचाहट के विनाश करने पर उतारू हो जाता है। भगवान महावीर की अहिंसा को समझने पर इसमें परिवर्तन सम्भव है।

सम्प्रति अहिंसा के प्रचार की आवश्यकता क्या है? यदि इस प्रश्न पर भगवान महावीर के उपदेश के आधार पर चिंतन किया जा तो अनेक बिन्दु उभर कर आते हैं, यथा–

1. अहिंसा सभी जीवों के लिए कल्याणकारिणी है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया है– **''अहिंसा तस–थावरसव्वभूयखेमंकरी''** (प्रश्नव्याकरण, 2.1) अर्थात् अहिंसा न केवल मनुष्यों का अपितु यह समस्त त्रस एवं स्थावर प्राणियों का मंगल करने वाली है। यदि हमें विश्व का मंगल अभीष्ट है तो अहिंसा को अपनाना होगा।
2. हिंसा से जहाँ वैर भाव बढ़ता है वहाँ अहिंसा मैत्री भाव का साधन है सूत्रकृताङ्गसूत्र में कहा गया है कि चाहे मनुष्य दूसरे के प्राणों का स्वयं हनन करे या दूसरों से हनन करावे, अथवा तो हनन किए जाते हुए का अनुमोदन करे, वह उस जीव के प्रति अपना वैरभाव बढ़ाता है–

   सयं तिवायए पाणे, अदुव अन्नेहिं घायए।
   हणंतं वाणुजाणाइ वेरं वड्ढइ अप्पणो।।

   -(सूत्रकृताङ्ग सूत्र, 1.1.3)

   इसलिए सबके साथ मैत्रीभाव एवं भाईचारा स्थापित करना हो तो हिंसा करना, कराना एवं अनुमोदन करना छोड़ना होगा। विश्व में हिंसा करके यदि कोई मित्रता स्थापित करना चाहता है तो यह सम्भव नहीं है।
3. भयभीतों के लिए अहिंसा शरण है। अहिंसा अभयदायिनी है। कहा गया है–

"भगवती अहिंसा भीयाणं विव सरणं।" -(प्रश्नव्याकरण सूत्र, 1.1)

संसार में यह नियम है कि हिंसा से आतंक एवं भय उत्पन्न होता है। प्रत्येक प्राणी उसी को पसन्द करता है, जो अभयदाता है। अभयदाता वही हो सकता है जो अहिंसक हो। इसलिए अहिंसा को अपनाना चाहिए।

4. हिंसा से हिंसा को रोका नहीं जा सकता, इसलिए भी हमें अहिंसा को अपनाना चाहिए– **"रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेणं चेव पक्खालिज्जमाणस्स णत्थि सोही"** (ज्ञाताधर्म कथा, 1.5)
5. विश्व में आज शान्ति, समता एवं स्वतन्त्रता की आवश्यकता का अनुभव किया जाता है, किन्तु इनकी प्राप्ति एवं रक्षा अहिंसा से ही सम्भव है। अहिंसा के अभाव में शान्ति एवं स्वतन्त्रता की परिकल्पना नहीं की जा सकती।
6. प्राणिमात्र जीना चाहता है। जीने का अधिकार उसे मानव की भाँति जन्म से ही स्वतः प्राप्त है। उसके इस अधिकार को समझकर हमें पशुओं के कत्लखानों जैसे भयानक हिंसा के कार्यों को बन्द करना होगा। विश्व में सम्प्रति मानवाधिकार की अवधारणा का तो विकास हुआ है, किन्तु भगवान महावीर प्राणिमात्र के अधिकार की बात करते हैं।

   आचारांग सूत्र कहता है कि जिसे तुम मारने योग्य समझते हो, वह तुम ही हो। तुम्हें अपने जैसे चेतनाशील प्राणी के प्रति संवेदनशीलता का अनुभव होना चाहिए।

   तुमं सि णाम तं चेव जं हंतव्वं ति मण्णसि।
   तुमंसि णाम तं चेव जं अज्जावेतव्वं ति मण्णसि।।

   -आचारांगसूत्र, 1.5.5
7. हिंसा नकारात्मक एवं हानिकारक भाव है, जबकि अहिंसा सकारात्मक एवं सबके लिए हितकारी भाव है। इसलिए हिंसा को छोड़कर अहिंसा को अपनाना चाहिए।

अहिंसा की आवश्यकता सम्पूर्ण विश्व को है। केन्द्र सरकार ने 'अहिंसा वर्ष' की घोषणा करके विश्व में अहिंसा के सन्देश को प्रचारित करने एवं उसका महत्त्व समझने का अनूठा अवसर प्रदान किया है। विश्व में अहिंसा का सन्देश फैलाने के साथ भारत सरकार को भी अहिंसा की ओर कुछ कदम उठाने होंगे। एतदर्थ कतिपय सुझाव प्रस्तुत हैं–

1. नये कत्लखाने खुलने की अनुमति इस अहिंसा वर्ष में न दी जाए।

2. मांस–निर्यात के नये लाइसेंस नहीं दिए जाएं।
3. मांस एवं मांस से निर्मित पदार्थों के आयात पर प्रतिबन्ध लगाया जाए।
4. दूरदर्शन एवं आकाशवाणी के माध्यम से अण्डा एवं मांस प्रयोग के विज्ञापनों पर रोक लगायी जाए।
5. देशवासियों के मध्य पारस्परिक भाईचारे को बढ़ावा दिया जाए।
6. अहिंसा वर्ष का सन्देश देश के सभी सरकारी कार्यालयों, संस्थाओं आदि को प्रसारित किया जाए तथा अहिंसक नियमों का पालन कराने हेतु सख्ती बरती जाए।

सुझाव बहुत हो सकते हैं, किन्तु सरकारी स्तर पर ऐसी घोषणा आवश्यक है, जिससे यह प्रतीत हो कि सरकार वास्तव में अहिंसा वर्ष मना रही है एवं विश्व को भी इसका सन्देश प्रसारित कर रही है। जैन बन्धुओं से भी निवेदन है कि वे सकारात्मक रवैया रखकर चलेंगे तो इस वर्ष में विश्व कल्याण की दृष्टि से अहिंसा वर्ष में महत्त्वपूर्ण कार्य सम्भव हो सकते हैं।

(अप्रेल, 2001)

भ्रूणहत्या का दंश

उदयपुर की फतहसागर झील में 2 अगस्त 2006 को तीन कन्या भ्रूण तैरते हुए पाये गये। इसी प्रकार भरतपुर में एक दम्पती कन्या भ्रूण को थैले में छिपाकर ले जा रहा था। राजस्थान एवं विभिन्न प्रान्तों में कन्या भ्रूण की जाँच पर सरकारी तौर पर रोक लगाई हुई है फिर भी चोरी-छिपे इस तरह की वारदातों का होना अभी भी जारी है। गुजरात से भी कुछ दम्पती जाँच कराने के लिए राजस्थान के डूंगरपुर, बांसवाड़ा जिलों में आते हैं, ऐसी सूचना समाचार पत्रों में प्रकाशित हुई है।

> - **भ्रूण हत्या अपनी ही सन्तान की हत्या है।**
> - **ऐसा नहीं है कि जन्म के पश्चात् ही जीवन प्रारम्भ होता है या उसमें जीव आता है, अपितु गर्भावस्था में भ्रूण का विकास ही उसमें जीवत्व का सूचक है।**
> - **माता-पिता कैसे अपनी ही संतान की हत्या के लिए तत्पर हो जाते हैं, यह आश्चर्यजनक अवश्य लगता है, किन्तु उनका अज्ञान, व्यक्तिगत समस्याएँ एवं सामाजिक वातावरण इसमें दोषी है।**
> - **कन्या भ्रूण हत्या के कई कारण हो सकते हैं, यथा- 1. पारम्परिक विकृत सोच, 2. अवैध संबंधों के उजागर होने का भय, 3. सामाजिक वातावरण, 4. सरकारी योजनाओं की विसंगति, 5. दहेज प्रथा की विभीषिका, 6. आर्थिक समस्याएँ आदि।**

भ्रूण हत्या को सभी धर्म पाप समझते हैं। वैदिक धर्म हो या ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म हो या जैन धर्म, मुस्लिम धर्म हो या यहूदी धर्म किसी भी धर्म में भ्रूण हत्या का समर्थन नहीं है। अपितु इसे नृशंस कोटि में रखा गया है।

भ्रूण हत्या अपनी ही सन्तान की हत्या है। सन्तान का जन्म होने के पश्चात् जहाँ उसके पालन-पोषण एवं औषधि आदि में हम कोई कसर नहीं छोड़ते, डॉक्टर से यदि कोई भूल हो जाए तो हम उसको दोषी ठहराकर उस पर चढ़ बैठते हैं, वहाँ उसका जन्म होने के पूर्व स्वयं ही मौत के घाट

उतारने को तैयार हैं। कैसा लज्जाजनक एवं अविवेकपूर्ण निर्णय है हमारा।

ऐसा नहीं है कि जन्म के पश्चात् ही जीवन प्रारम्भ होता है या उसमें जीव आता है, अपितु गर्भावस्था में भ्रूण का विकास ही उसमें जीवत्व का सूचक है। जिस क्षण जीव का वहाँ आगमन होता है उसी क्षण गर्भ का विकास प्रारम्भ होता है। गर्भस्थ मनुष्य एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय नहीं, अपितु पंचेन्द्रिय जीव होता है। वह हमें चक्षुगोचर नहीं होता इसलिए उसके प्रति दया, करुणा का भाव अथवा मोह-ममत्व का भाव प्रबल नहीं होता, किन्तु यह तो मानना ही होगा कि हमारा भी जन्म होने के पूर्व हम भी इसी प्रकार गर्भ में विकसित हुए थे एवं प्राणवान् थे। प्राणवान् होने पर ही गर्भ में विकास सम्भव है। हमें जिस प्रकार हमारा जीवन प्रिय लगता है ठीक उसी प्रकार गर्भस्थ शिशु को भी जीवन प्रिय है। माता-पिता कैसे अपनी ही संतान की हत्या के लिए तत्पर हो जाते हैं, यह आश्चर्यजनक अवश्य लगता है, किन्तु उनका अज्ञान, व्यक्तिगत समस्याएँ एवं सामाजिक वातावरण इसमें दोषी है।

- **भ्रूण हत्या निश्चित ही अमानवीय कृत्य है एवं मानवता के नाम पर कलंक है।**
- **कन्या भ्रूण हत्या रोकने के लिए 1994 में बने पी सी पी एन डी टी एक्ट के तहत लिंग परीक्षण करने पर सजा का कड़ा प्रावधान है।**
- **जो समाज चींटी मारने में हिंसा से बचता है वह समाज भी यदि भ्रूण हत्या में लिप्त हो तो यह उसके क्रूर निर्णय, अज्ञान एवं भय का सूचक है।**

कन्या भ्रूण हत्या के कई कारण हो सकते हैं, यथा- 1. पारम्परिक विकृत सोच 2. अवैध संबंधों के उजागर होने का भय 3. सामाजिक वातावरण 4. सरकारी योजनाओं की विसंगति 5. दहेज प्रथा की विभीषिका 6. आर्थिक समस्याएँ आदि।

सरकारी योजनाओं के कारण 'परिवार नियोजन' के सिद्धान्त को सामाजिक स्तर पर स्वीकार कर लिया गया है। आज से 40 वर्ष पूर्व जहाँ अधिक संतान वाले परिवार को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था वहाँ अब दो-तीन सन्तान से अधिक होने पर उस परिवार को हीन दृष्टि से देखा जाता है।

सामाजिक वातावरण भी व्यक्ति को भ्रूण हत्या के लिए तैयार करता है। सामाजिक दबाव के कारण व्यक्ति दो या तीन से अधिक संतान रखना नहीं चाहता है, आर्थिक समस्या भी इसमें कारण हो सकती है। अतः जब एक पुत्री हो जाय तो वह चाहता है कि दूसरी सन्तान पुत्र हो। अब दूसरी सन्तान पुत्र नहीं होती है तो वह पुरुष

संतान की चाह में कन्या भ्रूण की हत्या के लिए मन बना लेता है। कुछ वर्षों पूर्व तो खुले रूप में लिंग परीक्षण की सुविधा प्राप्त थी कि भ्रूण स्त्री है या पुरुष। सैकड़ों की संख्या में ऐसे क्लिनिक खुल गए थे जो लिंग का परीक्षण कर रिपोर्ट देने लगे। गर्भपात पर राज्य सरकार की रोक न तब थी और न अब। इसलिए धड़ल्ले से कन्या भ्रूण की एवं अनचाहे भ्रूण की हत्या चल रही थी।

जब सरकार का ध्यान इस ओर गया कि इससे देश में पुरुष सन्तानों के मुकाबले स्त्री-सन्तान की संख्या तेजी से घट रही है तो लिंग परीक्षण पर कानूनी रोक लगा दी गई। अब जो लिंग परीक्षण होते हैं वे चोरी छुपे होते हैं। पता चलने पर कैद व जुर्माने की सजा है। सरकार ने लिंग परीक्षण पर रोक लगाकर तो अच्छा किया, किन्तु गर्भपात पर अभी तक कोई रोक नहीं है। यह एक विसंगति है। धार्मिक दृष्टि से भ्रूण हत्या पाप है, किन्तु नैतिक दृष्टि से भी इस पर रोक लगनी चाहिए। माता के जीवन-मृत्यु के संघर्ष में अथवा अन्य ऐसी आपवादिक स्थिति में गर्भपात की सुविधा सरकार भले ही दे, किन्तु सामान्य गर्भपात की सुविधा जो जनसंख्या नियंत्रण की दृष्टि से दी हुई है उस पर रोक लगना आवश्यक है।

अभी हरियाणा प्रान्त के एक गांव में 4 वर्ष के बालक प्रिंस को बचाने में सरकार ने जो मुस्तैदी दिखाई तथा धन-व्यय किया वह निश्चित ही एक उदाहरण है जो जीवनरक्षा के लिए सरकार के संकल्प को व्यक्त करता है। फिर प्रश्न यह है कि गर्भपात एवं भ्रूणहत्या जैसे घिनौने कार्य को नियन्त्रित कर सरकार गर्भ में पल रहे जीवों की रक्षा के लिए कदम क्यों नहीं उठाती? गर्भस्थ भ्रूण ही तो शिशु एवं बालक के रूप में विकास को प्राप्त करता है।

भ्रूण हत्या में कितना घिनौना कृत्य होता है, इसकी अब फिल्में/कैसेट भी बनी हैं। जो इन्हें देख लेता है, उसका हृदय निश्चित ही दहल उठता है। भ्रूण के 16 सप्ताह से अधिक का होने पर ज़हरीला रसायनयुक्त इंजेक्शन लगाया जाता है जिससे भ्रूण एक घंटे में मर जाता है। 18 सप्ताह के भ्रूण को नुकीली कैंची से नोंचकर या काटकर निकाला जाता है। इस प्रकार अनेक विधियों से भ्रूण को नष्ट किया जाता है। एक खास दवा का इस्तेमाल करने से भ्रूण तेजी से बाहर आ जाता है। भ्रूण हत्या निश्चित ही अमानवीय कृत्य है एवं मानवता के नाम पर कलंक है।

हिन्दू संस्कृति के ग्रन्थों में यह नहीं कहा गया कि कन्या का जन्म अशुभ या हेय है। अपितु मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में पुत्र एवं पुत्री को समान आदर से देखने का कथन है। स्त्री की सर्वविध सुरक्षा के प्रावधानों का भी वहाँ उल्लेख है। स्त्री को

विवाह आदि में प्राप्त धन को 'स्त्री धन' कहा गया है। 'स्त्री धन' पर प्रमुखतः स्त्री का अधिकार होता है। उसकी मृत्यु के पश्चात् भी उस धन पर पुत्री का प्रथम अधिकार होता है।

इस प्रकार प्राचीन हिन्दू धर्म ग्रन्थों में स्त्री की सुरक्षा एवं आदर पर पूरा ध्यान दिया गया है। मनुस्मृति तो यहाँ तक कहती है- "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः" जहाँ नारी की पूजा की जाती है अर्थात् उसे आदर दिया जाता है वहाँ देवता रमण करते हैं अर्थात् सुख-शान्ति और समृद्धि रहती है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या पुत्र के बिना भी समाज व्यवस्था चल सकती है? तो उत्तर होगा कि आधुनिक युग में कन्याएँ भी पढ़-लिखकर पुत्रवत् दायित्वों का निर्वाह करने में समर्थ हो रही हैं। पुत्र एवं पुत्री के बीच भेदभाव पूर्ण व्यवहार में पूर्वापेक्षा कमी आई है। अब पुत्रियों के विकास पर भी उतना ही ध्यान दिया जाने लगा है जितना कि पुत्रों के विकास पर। कई बार पुत्र माता-पिता की उतनी सेवा नहीं कर पाते जितनी पुत्रियाँ कर देती हैं। कई घरानों में ऐसी भी अवस्था बनती है कि जिन पुत्रों को पढ़ाया लिखाया, वे विदेश में जा बसे और भारत में आकर माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा का उनके पास कोई समय नहीं रहता। इसलिए पुत्रों के प्रति आकर्षण और पुत्रियों के प्रति अनाकर्षण का भाव अपने पारम्परिक सोच के अतिरिक्त कोई महत्त्व नहीं रखता। दूसरी बात यह है कि पुत्र अथवा पुत्री का जन्म अपने हाथ में नहीं है। जो अपने हाथ में नहीं है उसके लिए दुःखी एवं परेशान होना उचित नहीं।

जैन समाज की जनसंख्या पर दृष्टिपात करें तो लड़कों की तुलना में लड़कियों की संख्या तेजी से घट रही है। जैन समाज में एक हजार लड़कों पर मात्र 878 लड़कियाँ हैं, जो एक विचारणीय मुद्दा है।

कन्या भ्रूण हत्या रोकने के लिए 1994 में बने पी सी पी एन डी टी एक्ट के तहत लिंग परीक्षण करने पर सजा का कड़ा प्रावधान है। पहली बार भ्रूण का लिंग बताने पर क्लीनिक, नर्सिंग होम, मातृ कल्याण केन्द्र आदि संस्थाओं के डॉक्टर को तीन वर्ष की कैद या दस हजार रुपये जुर्माना या दोनों सजा के साथ पाँच वर्ष तक रजिस्ट्रेशन रद्द करने का प्रावधान है। दूसरी बार भ्रूण का लिंग बताने पर पाँच वर्ष की कैद या पचास हजार रुपये जुर्माना या दोनों सजाओं के साथ रजिस्ट्रेशन सदा के लिए रद्द करने का प्रावधान है। अतः अब लिंग परीक्षण का विचार भी मन में लाना उचित नहीं।

भ्रूण हत्या अमानवीय, अनैतिक एवं पंचेन्द्रिय वध का पाप है। यह मानव

की क्रूरता एवं अज्ञान का परिचायक है। जो समाज चींटी मारने में हिंसा से बचता है वह समाज भी यदि भ्रूण हत्या में लिप्त हो तो यह उसके क्रूर निर्णय, अज्ञान एवं भय का सूचक है। इसे धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय दृष्टि से समुचित नहीं कहा जा सकता। (अगस्त, 2006)

विवाह और हम

भारतीय जन-परम्परा का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि यहाँ के लोग जीवनभर कमाये धन का व्यय तीन कार्यों में अधिक करते रहे हैं- 1. गृह-निर्माण 2. विवाह-समारोह 3. मृत्युभोज। समाज में शिक्षा बढ़ने के साथ मृत्यु-भोज में तो व्यय कम होने लगा है तथा कहीं-कहीं इसका संक्षिप्त रूप प्रचलित है तो कहीं समाज द्वारा मृत्यु-भोज का निषेध भी कर दिया गया है। किन्तु अभी भी गृह-निर्माण एवं विवाह-समारोह में व्यक्ति जीवनभर की कमाई लगाकर अपने को कृतकृत्य समझता है। इनमें किए गए व्यय को वह सामाजिक प्रतिष्ठा का हिस्सा मानता है, इसलिए इनमें व्यय पूर्वापेक्षया बढ़ा ही है। आवास-व्यवस्था सुकर होना जीवन की एक बड़ी सुविधा है, इसलिए इसमें किया गया आवश्यक व्यय समाज के स्तर पर भी स्वीकार्य होता है और यह एक निवेश (Investment) है जो आर्थिक दृष्टि से प्रायः लाभकारी होता है, किन्तु एक परिवार के आवास के लिए जो करोड़ों की धनराशि लगायी जाती है उसका सामाजिक स्तर पर प्रतिष्ठा के अतिरिक्त औचित्य परिलक्षित नहीं होता है। हाँ,इसमें काले धन का सदुपयोग आसानी से हो जाता है।

> - **धन का व्यय तीन कार्यों में अधिक करते रहे हैं- 1. गृह-निर्माण, 2. विवाह-समारोह, 3. मृत्युभोज।**
> - **गृह-निर्माण एवं विवाह-समारोह में व्यक्ति जीवनभर की कमाई लगाकर अपने को कृत-कृत्य समझता है।**
> - **क्या विवाह-समारोह में किया गया धन का व्यय वर-वधू को सुखद दाम्पत्य जीवन में बाँधे रख सकता है?**

मकान के अतिरिक्त धन का व्यय अधिकतर विवाह के आयोजन में होता है। लोग अपनी क्षमता के अनुसार हजारों, लाखों और करोड़ों रुपये विवाह-आयोजन में व्यय करते हैं। कोई स्वेच्छा से व्यय करते हैं तो कोई सामाजिक दबाव में आकर ऐसा करते हैं।

■ आज स्त्रियाँ जहाँ अपने को पुरुष के बराबर समझकर समायोजन के सूत्र भूल रही हैं, वहाँ पुरुष अपने मिथ्या दम्भ एवं अहंकार के कारण स्त्री को पूर्ण आत्मीयता एवं विश्वास प्रदान नहीं कर पाते हैं।

■ विवाह के समय भावी जीवन की सुन्दरता एवं पारस्परिक प्रेमभाव के लिए कुछ संकल्प अवश्य किए जाने चाहिए। संकल्पों को लिखकर उनका समय-समय पर स्मरण कर व्यवहार को परिमार्जित किया जा सके।

■ परिवार में सुख-शांति से जीने के लिए मूल्यपरक शिक्षा एवं सत्संस्कारों की आज महती आवश्यकता है।

विवाह-समारोह के आयोजन में विपुल धनराशि व्यय करने के बाद भी प्रश्न खड़ा होता है कि क्या विवाह-समारोह में किया गया धन का व्यय वर-वधू को सुखद दाम्पत्य जीवन में बाँधे रख सकता है? क्या उसके पश्चात् पारस्परिक कलह एवं तलाक के प्रसंग उपस्थित नहीं होते? धन का व्यय अपनी जगह है और समायोजन की योग्यता अपनी जगह।

विवाह में वर एवं वधू तो साथ रहकर जीवन-यापन का संकल्प ग्रहण करते ही हैं, उनके माता-पिता एवं परिवारजन भी परस्पर सगे (स्वक-आत्मीय) बन जाते हैं। जिस दिन सगाई निश्चित होती है, उस दिन से दो परिवार स्वकता (सगाई) अर्थात् आत्मीयता या अपनेपन में बंध जाते हैं। इस अपनेपन का निर्वाह कितनी सुन्दरता से होता है, यह उन दोनों पक्षों पर निर्भर करता है।

दोनों पक्ष आत्मीय बन जाने पर एक-दूसरे को निभाने वाले होते हैं, एक-दूसरे की कमी निकालने एवं अधिकाधिक अपेक्षा रखने वाले नहीं होते। अपनी क्षमतानुसार एक-दूसरे का ध्यान रखना वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

आज विवाह का निर्वाह कठिन हो रहा है। इसमें स्त्री एवं पुरुष दोनों की भूमिका है। स्त्रियाँ जहाँ अपने को पुरुष के बराबर समझकर समायोजन के सूत्र भूल रही हैं, वहाँ पुरुष अपने मिथ्या दम्भ एवं अहंकार के कारण स्त्री को पूर्ण आत्मीयता एवं विश्वास प्रदान नहीं कर पाते हैं। परिवार में अनुशासन शिथिल हो रहा है। इसमें परिवार के मुखिया की भी भूमिका सकारात्मक होनी आवश्यक है।

सम्प्रति विवाह-समारोह में जैनाचार का ध्यान नहीं रखा जाता, उस पर भी कठोरता से चिन्तन आवश्यक है, यथा-

1. विवाह-समारोह का आयोजन हरी दूब पर करना जैन परम्परा के अनुकूल नहीं

है। इसमें वनस्पतिकाय के जीवों का तो हनन होता ही है, किन्तु अनेक त्रस जीवों का भी घात होता है; अतः जैनों को हरी दूब वाले स्थानों पर विवाह–समारोह एवं भोज आदि के आयोजन से बचना चाहिए।

2. पंच–सितारा होटलों में विवाह के आयोजन एक ओर समाज के बीच वर्गभेद को प्रकट करते हैं तो दूसरी ओर वहाँ का आहार भी शुद्धता एवं शाकाहार की दृष्टि से संदिग्ध रहता है।

3. विवाह–भोज में अधिक व्यंजनों का निर्माण जहाँ प्रदर्शन को प्रोत्साहन देता है वहाँ जूठन एवं अपव्यय को भी बढ़ावा देता है। देश के कुछ नगरों में 100 से भी अधिक भोज्य/पेय वस्तुएँ समारोह में होती हैं, जिनकी नामवरी के अलावा कोई आवश्यकता नहीं होती। अतः इस पर नियन्त्रण आवश्यक है। भोज में 10 से 15 खाद्य वस्तुएँ भी पर्याप्त होती हैं।

4. आतिशबाजी एवं सड़कों पर महिलाओं द्वारा नृत्य मर्यादा के अनुकूल नहीं है। यह अनेक स्थानों पर बंद हुआ है तथापि अभी तक प्रचलन में है जिसे समाज–स्तर पर निर्णय लेकर बन्द किया जाना चाहिए।

5. जहाँ तक संभव हो विवाह के भोज रात्रि में न रखकर दिन में किए जायें। सूर्यास्त के पूर्व भोजन करने वाले गिनती के लोग होते हैं। संख्या की यह न्यूनता जैनाचार पर कलंक है। आयोजक भी उस समय कामचलाऊ तैयारी रखते हैं तथा सम्पूर्ण भोज रात्रि में ही प्रारम्भ होता है।

यह भी देखा गया है कि बहुत से सुज्ञ श्रावक अपने पारिवारिक सदस्यों को समुचित कार्य के लिए राजी नहीं कर पाते हैं तथा उनके यहाँ भी स्थूल जैनाचार–परम्परा का भी उल्लंघन देखा जाता है। इस संबंध में चिन्तन कर ठोस कदम उठाने की आवश्यकता है।

विवाह में व्यय के विभिन्न मद हैं–1.वधू के साथ दहेज 2.सामूहिक भोज 3. बैण्ड–बाजे 4.आतिशबाजी 5.बारात–सज्जा 6.बारात–स्वागत 7.परिजनों को वस्त्र आदि। इनमें आतिशबाजी, बैण्डबाजे आदि में धन का अपव्यय रोका जा सकता है।

विवाह–समारोह में फिजूलखर्ची को रोकने हेतु एवं निम्न–मध्यमवर्ग के निर्वाह हेतु सामूहिक विवाह–समारोहों के आयोजन का प्रोत्साहन अपेक्षित है। एक ही दिनांक को निर्धारित विवाह–समारोहों को दो–तीन व्यक्ति मिलकर भी आयोजित कर सकते हैं।

दहेज की माँगनी या आड़े–टेढ़े तरीके से उसकी पूर्ति कराने के प्रयास भी

जैन समाज के लिए शोभाजनक नहीं हैं। कई बार शादी के पश्चात् भी वधू को दहेज के लिए तंग किया जाता है, जो अमानवीय है। पिता भी अपनी पुत्री को भी पुत्र की भाँति समझकर उसके लिए व्यय करने में कंजूसी न करे तथा क्षमतानुसार उसे स्त्रीधन के रूप में कुछ आभूषण या बैंक राशि अवश्य दे, ताकि उसका संकटकाल में कुछ आधार रहे। आगमों में करोड़ों सोनैया देने का उल्लेख आता है, किन्तु दहेज माँगने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। आजकल नारी शिक्षा पर बल दिया जा रहा है। बेटी को पढ़ा-लिखाकर योग्य बनाना दहेज देने से भी अधिक हितकर है। इससे वह अपने पैरों पर खड़ी हो सकती है। करोड़ों सोनैया देने से भी यह शिक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

आज शादी-विवाहों पर जो राशि व्यय की जा रही है, उसका 10 प्रतिशत अंश भी यदि बालक-बालिकाओं के समुचित मानसिक विकास एवं सत्संस्कारों पर व्यय किया जाए तो परिवार, समाज एवं देश का महान् हित हो सकता है। भारत में अब शिक्षा/व्यावसायिक शिक्षा पर तो माता-पिता पैसा खर्च करने लगे हैं, किन्तु अभी भी बालकों के समुचित मानसिक/बौद्धिक विकास के साथ विनयशीलता, सहिष्णुता, क्षमाभाव, अनाग्रही वृत्ति, प्रामाणिकता, निःस्वार्थ-प्रेम आदि की कमी दिखाई देती है, जिसका प्रशिक्षण भावी पीढ़ी एवं उत्कृष्ट समाज-रचना के लिए आवश्यक है। एक सुझाव यह है कि विवाह के समय भावी जीवन की सुन्दरता एवं पारस्परिक प्रेमभाव के लिए कुछ संकल्प अवश्य किए जाने चाहिए। उन संकल्पों को लिखकर रखना चाहिए ताकि उनका समय-समय पर स्मरण कर व्यवहार को परिमार्जित किया जा सके।

परिवार में सुख-शांति से जीने के लिए मूल्यपरक शिक्षा एवं सत्संस्कारों की आज महती आवश्यकता है। आध्यात्मिक एवं धार्मिक साहित्य का स्वाध्याय भी इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध हो सकता है। **(दिसम्बर, 2005)**

परिग्रह–परिमाण व्रत

भगवान महावीर ने श्रमण–श्रमणियों के लिए परिग्रह से विरमण रूप महाव्रत का एवं श्रावक–श्राविकाओं के लिए परिग्रह–परिमाण व्रत का उपदेश दिया। परिग्रह से विरमण तो परिग्रह पर पूर्ण विराम की साधना है और परिग्रह–परिमाण व्रत के अन्तर्गत परिग्रह की अभिलाषा को नियन्त्रित किया जाता है। परिग्रह की असीमित अभिलाषा व्यक्ति के तनाव एवं दुःख का प्रमुख कारण है, इसलिए उस पर नियन्त्रण कर शान्ति एवं सुख का अनुभव किया जा सकता है।

प्रश्न यह है कि आज जहाँ वस्तुओं की सुलभता, धन की प्रचुरता और साधनों की सुविधा को व्यक्ति एवं राष्ट्र के विकास का मानदण्ड समझा जा रहा है, वहाँ परिग्रह–परिमाण व्रत का क्या औचित्य है ? यह युग वैज्ञानिक विकास के साथ आर्थिक विकास का युग है। आज समस्त विकास अर्थ केन्द्रित है। आई.आई.टी. में जाने वाले छात्र हों या आई.ए.एस. में, डॉक्टर बनना हो या वकील, इंजीनियर बनना हो या उद्योगपति, सबके केन्द्र में अर्थ है। अर्थ को जीवन–स्तर के सुधार का आधार माना जाता है। यह भी समझा जाता है कि प्रति व्यक्ति आय का अनुपात बढ़े एवं सबके जीवन जीने का स्तर बढ़े तभी विकास की मंजिल तय हो सकती है। प्राकृतिक संपदा हो या वैज्ञानिक उत्पाद सबको व्यापार का हिस्सा बनाया जा रहा है।

- **परिग्रह की असीमित अभिलाषा व्यक्ति के तनाव एवं दुःख का प्रमुख कारण है, इसलिए उस पर नियन्त्रण कर शान्ति एवं सुख का अनुभव किया जा सकता है।**
- **अर्थ को जीवन–स्तर के सुधार का आधार माना जाता है।**
- **विकास का तात्पर्य मात्र क्रय शक्ति एवं वस्तुओं की उप–लब्धता का विकास ही नहीं होता।**
- **बाह्य विकास के साथ आत्मिक या आध्यात्मिक विकास भी नितान्त आवश्यक है।**
- **बाह्य परिग्रह के परिमाण के साथ आभ्यन्तर परिग्रह पर भी विजय आवश्यक है।**

इसके दूसरे पक्ष पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि परिग्रह की वृद्धि की दौड़ में जो मनुष्य दिन-रात एक कर रहा है तथा जिसे लाखों, करोड़ों और अरबों की सम्पत्ति प्राप्त हो गयी है क्या वह अपने को संतुष्ट और सुखी अनुभव करता है? इस प्रश्न का उत्तर प्रायः नहीं में ही आता है। इसका तात्पर्य है अधिक धन-सम्पदा से सुख-शांति एवं व्यक्ति की चेतना का विकास होता है, ऐसा नहीं है। परिग्रह की तृष्णा का कोई अन्त नहीं होता। उसका अन्त मानव की अपनी समझ से ही शक्य है। इस समझ में परिग्रह-परिमाण व्रत या परिग्रह-विरमण व्रत का अंगीकरण भी सम्मिलित है।

- **इच्छा परिमाण या परिग्रह परिमाण सुखी जीवन का प्रमुख आधार है।**
- **परिग्रह को आर्थिक उन्नति का साधन मानकर न्यायनीति को गौण कर दिया जाए तो व्यक्ति अनेक दोषों से ग्रस्त हो सकता है।**
- **मात्र अर्थकेन्द्रित विकास मनुष्य की वृत्तियों को पशुत्व की ओर ले जाता है।**
- **आर्थिक विकास के साथ मानवता का विकास भी आवश्यक है, जिसमें परिग्रह परिमाण व्रत की महती भूमिका हो सकती है।**
- **परिग्रह परिमाण के विविध लाभ हैं। जिनमें कुछ वैयक्तिक हैं और कुछ सामाजिक एवं कुछ वैश्विक।**
- **बेरोजगारी, भ्रष्टाचार तथा पर्यावरण प्रदूषण इन समस्याओं के निवारण में भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित परिग्रह परिमाण-व्रत एक सार्थक उपाय सिद्ध हो सकता है।**

विकास का तात्पर्य मात्र क्रय शक्ति एवं वस्तुओं की उपलब्धता का विकास नहीं होता। यह तो भौतिक विकास है। इस विकास को ही पूर्ण विकास मान लेना मानव का अज्ञान है। बाह्य सुख-सुविधाओं का अपना महत्त्व है, किन्तु उनकी प्राप्ति की दौड़ में अशान्ति, तनाव और विभिन्न प्रकार के रोगों से ग्रस्त हो जाना कोई बुद्धिमत्ता तो नहीं। बाह्य विकास के साथ आत्मिक या आध्यात्मिक विकास भी नितान्त आवश्यक है। व्यक्ति के विकास में दृष्टिकोण का सम्यक् और व्यापक होना आवश्यक है। उसका ज्ञान ही इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है।

यद्यपि परिग्रह का वास्तविक रूप मूर्च्छा या आसक्ति भाव है-'**मुच्छा परिग्गहो वुत्तो**।' किन्तु इस मूर्च्छा के कारण व्यक्ति बाह्य सुख-सुविधाओं या वस्तुओं के संग्रह में संलग्न हो जाता है।

अपने भीतर कोई सुख का स्रोत है, इसे वह नहीं जान पाता। बाह्य छोटी-छोटी इच्छाओं की पूर्ति के लिए भीतर के सुख चैन को दाँव पर लगा देता है। भीतर में सुख न मानकर बाहर में उसका स्रोत समझना मिथ्यात्व है। शरीर की आवश्यकता पूर्ति हेतु आजीविका का साधन गृहस्थ के लिए आवश्यक है, किन्तु मन की अनन्त इच्छाओं की पूर्ति हेतु सदैव अशान्त एवं तनावग्रस्त रहना कदापि उचित नहीं है। इसलिए महेच्छ होने की अपेक्षा अल्पेच्छ होना समुचित है। भगवान महावीर द्वारा निरूपित परिग्रह परिमाण व्रत अल्पेच्छ या मर्यादितेच्छ होने का संदेश देता है।

आज परिग्रह परिमाण व्रत का एक दूसरा ही रूप नज़र आता है जिसमें व्यक्ति के पास दस लाख की सम्पत्ति न होने पर भी वह दस अरब की मर्यादा या परिमाण करता है। इसे वर्तमान संदर्भ में व्यावहारिक तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु भावी की अपेक्षा कहीं तो मर्यादा है और साथ ही अनियन्त्रित पापास्रव पर कुछ नियन्त्रण कहा जा सकता है। परिग्रह का परिमाण मनुष्य की इच्छाओं का सीमांकन करता है, साथ ही परिग्रह के साथ जुड़े हुए आरम्भ, मिथ्या भाषण, चोरी, लोभ, अहंकार आदि पर भी विजय प्राप्त करने की ओर चरण बढ़ते हैं।

बाह्य परिग्रह के परिमाण के साथ आभ्यन्तर परिग्रह पर भी विजय आवश्यक है। आभ्यन्तर परिग्रह पर विजय प्राप्त होने से बाह्य परिग्रह पर नियंत्रण स्वतः हो जाता है। आगम में परिग्रह-परिमाण के साथ आजीविका के साधनों की पवित्रता पर भी ध्यान दिया गया है। अंगार कर्म, वनकर्म आदि पन्द्रह व्यवसायों को हिंसा की अधिकता एवं कर्मबंध का प्रमुख स्रोत होने से श्रावक के लिए त्याज्य बताया गया है।

इच्छा परिमाण या परिग्रह परिमाण सुखी जीवन का प्रमुख आधार है। इससे आर्थिक विकास अवरुद्ध नहीं होता, अपितु परिमाण से अधिक अर्जन का उपयोग बेरोजगारों को रोजगार उपलब्ध कराने में अथवा समाज हित या राष्ट्र हित के उपयोगी कार्यों में किया जा सकता है। जिसे अपने लिए नहीं चाहिये वह दूसरों के लिए उपयोगी बन जाता है।

श्रावक को न्याय-नीति पूर्वक उपार्जन करना चाहिए। परिग्रह को आर्थिक उन्नति का साधन मानकर न्यायनीति को गौण कर दिया जाए तो व्यक्ति अनेक दोषों से ग्रस्त हो सकता है। यथा- अनैतिकता, भ्रष्टाचार, असंयम, लोभ, वस्तुओं की दासता, शोषण, मिलावट, तस्करी, कालाबाजारी, धोखाधड़ी आदि। इसके विपरीत परिग्रह की मर्यादा को स्वीकार किया जाए तो उपर्युक्त दोषों में निश्चित रूप से कमी आ सकती है।

मात्र अर्थकेन्द्रित विकास मनुष्य की वृत्तियों को पशुत्व की ओर ले जाता है। वह उसे संवेदना-शून्य, क्रूर एवं स्वार्थी बनाता है। किन्तु परिग्रह-परिमाण व्रत का प्रभाव अनूठा है। यह मनुष्य को जीवन-मूल्यों से जोड़े रखता है, जिससे वह अपनी दुष्प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करने के साथ जगत के अन्य प्राणियों के प्रति संवेदनशील, उदार एवं सहयोगी बनता है। आर्थिक विकास के साथ मानवता का विकास भी आवश्यक है जिसमें परिग्रह परिमाण व्रत की महती भूमिका हो सकती है। परिग्रह परिमाण के विविध लाभ हैं। जिनमें कुछ वैयक्तिक हैं और कुछ सामाजिक एवं कुछ वैश्विक। वैयक्तिक लाभ के अन्तर्गत आत्मिक संतोष एवं सुख की प्राप्ति का प्रमुख स्थान है। संवर और निर्जरा की साधना का भी द्रुत गति से विकास होता है। सामाजिक दृष्टि से परिग्रह-परिमाण व्रती ईर्ष्या का भाजन नहीं बनता है। वह समाज का शोषण नहीं करता। समाज का शोषण नहीं करने के कारण दूसरों का प्रिय होता है। वस्तुओं पर एकाधिकार न होने से दूसरों को भी उनकी उपलब्धि का अवसर रहता है। पारस्परिक संघर्ष या टकराव में कमी आती है, जो सामाजिक समरसता के लिए महत्त्वपूर्ण साधन है। आज विश्व में बेरोजगारी, भ्रष्टाचार तथा पर्यावरण प्रदूषण की समस्याएँ मुँह बाएँ खड़ी हैं। इन समस्याओं के निवारण में भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित परिग्रह परिमाण-व्रत एक सार्थक उपाय सिद्ध हो सकता है। इच्छाओं के अल्पीकरण में इन सब समस्याओं का समाधान निहित है। उससे सबको रोजगार के अवसर सुलभ होंगे तथा भ्रष्टाचार पर भी नियन्त्रण होगा। परिग्रह परिमाण व्रत को यदि व्यापक स्तर पर स्वीकार कर लिया जाए तो व्यक्ति निर्भय होकर विचरण कर सकता है तथा अल्पेच्छा के द्वारा पर्यावरण प्रदूषण पर भी नियंत्रण पाया जा सकता है।

(अप्रेल, 2005)

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

के विविध सेवा सोपान

जिनवाणी हिन्दी मासिक पत्रिका का प्रकाशन

जैन इतिहास, आगम एवं अन्य सत्साहित्य का प्रकाशन

अखिल भारतीय श्री जैन विद्वत् परिषद का संचालन

श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण संस्थान का संचालन

उक्त प्रवृत्तियों में दानी एवं प्रबुद्ध चिन्तकों के रचनात्मक सक्रिय सहयोग की अपेक्षा है।

सम्पर्क सूत्र
मंत्री
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
दुकान नं. 182 के ऊपर, बापू बाजार
जयपुर – 302003 (राजस्थान)
दूरभाष : 0141–2575997
ई–मेल : sgpmandal@yahoo.in